लोकनागरी लीपी

वीनोबा-नीवास
जमशेदपुर
16.2.66

श्री तोमरजी,

पत्र मीला। खुशी की बात है की 'वीश्व-भारती' पत्रीका फीर से शुरू होने जा रही है। मुझे इसका पता ही नहीं था की वह बीच में बंद हुई थी। आशा करता हूं जब वह दुबारा शुरू हो रही है तो स्थायी रूपेण चलेगी।

"अनारंभो ही ~~[illegible]~~ कार्याणां प्रथमं बुद्धी-लक्षणम्
आरब्धस्य अंतगमनं द्वीतीयं बुद्धी-लक्षणम्॥"

वीनोबा का
जय जगत

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक



सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म् । प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथितामिर्विचित्रविद्याकुसुमालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।

विश्वभारती पत्रिका विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं । किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं । संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियां जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं । इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है । लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपनेको उत्तरदायी नहीं मानता ।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :

संपादक 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ७, अंक १

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२३

विषय सूची

आवरणपृष्ठ पर शीर्षक तथा सप्तपर्णी का पुष्प शिल्पाचार्य नंदलाल वसु द्वारा अंकित है।

दो नारियाँ — चित्रकार—श्रीनन्दलाल वसु

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम से)

महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज, एम ए, डो लिट्, काशी ।

देवनाथ चतुर्वेदी, एम ए, शोध छात्र, हिन्दी-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

द्विजराम यादव, एम, ए, शोध छात्र, हिन्दी-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, एम ए, रीडर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद ।

(कुमारी) प्रेमलता शर्मा, एम ए, पीएच् डी, रीडर तथा डीन, फैकल्टी अव् म्यूज़िक एण्ड फाइन आर्ट्स, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, एम ए, पीएच् डी, हिन्दी विभाग, पजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

वासुदेव शरण अग्रवाल, एम ए, डी लिट्, प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय संस्कृति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

विद्याधर व्यंकट वम्फलवार, अध्यापक, शास्त्रीय सगीत, सगीत-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

विनोदबिहारी मुकर्जी, प्रसिद्ध कलाकार तथा कलासमीक्षक, अध्यापक, कला-भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।

कुमारी सीता बिम्ब्रा, एम ए, शोध छात्रा, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, पजाब ।

अपनी बात

लगभग तीस वर्ष पूर्व दो चार वर्ष के अन्तर से शान्तिनिकेतन से अंग्रेज़ी, बंगला और हिंदी में तीन स्वतंत्र त्रैमासिक पत्रिकाएं निकली थीं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रेरणा से ही इन पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। बंगला और अंग्रेज़ी की पत्रिकाएं तो उनके जीवनकाल में ही प्रारंभ हो गई थी। हिन्दी त्रैमासिक विश्वभारती सन् १९४२ में गुरुदेव के निधन के पश्चात् निकली थी यद्यपि उसके प्रकाशन की संपूर्ण व्यवस्था उनके जीवनकाल में हो गई थी। पत्रिका के प्रथम अंक में उसके संपादक पण्डित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, "शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना के अवसर पर स्वर्गीय गुरुदेव ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विश्वभारती से एक ऐसी हिन्दी पत्रिका प्रकाशित हो, जिसके द्वारा भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना का जो कुछ सर्वोत्तम है उसका नियमित रूप से प्रचार और उन्नयन होता रहे।" इस महत् उद्देश्य को संमुख रखकर पत्रिका कई वर्षों चली, कदाचित् कुछ कठिनाइयों के कारण सन् १९४८ में वह बंद हो गई। छः वर्षों में उसे देश विदेश के अनेक शीर्षस्थ विद्वानों और विचारकों का सहयोग प्राप्त हुआ था; जिसे आचार्य क्षितिमोहन सेन, विधुशेखर भट्टाचार्य, डा० भगवानदास, डा० राजेन्द्रप्रसाद, राहुल सांकृत्यायन जैसे व्यक्तियों का सहयोग मिला हो वह पत्रिका अपने को गौरवान्वित समझे तो उचित ही होगा। इनके तथा अनेक अन्य प्रतिष्ठितयश विद्वानों के लेख उसमें निकले थे। इतना अच्छा स्तर होते हुए भी पत्रिका बन्द हो गई; बंगला तथा अंग्रेज़ी की पत्रिकाएं निकल रही हैं और उन्होंने देश के सांस्कृतिक जोवन में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

अठारह वर्ष बाद हम विश्वभारती पत्रिका फिर से प्रारम्भ कर रहे हैं। उसका अतीत उज्ज्वल रहा है और वर्तमान उसके अनुकूल है—ऐसा लगता है। आज की परिस्थितियां बहुत कुछ बदल गई हैं—सन् १९४८ की तुलना में। देश की एकता विशेषरूप से सांस्कृतिक तथा भावात्मक एकता का जो संगठित उत्साहपूर्ण स्वर उस समय स्वाधीन भारत के स्वर्णोदय की वेला में सुनाई पड़ रहा था उसके अनुरूप वातावरण तैयार नहीं हो सका, आज वह सुर क्षीण हो गया है और हमसे दूर चला गया प्रतीत होता है। अतः आज भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना के सर्वोत्तम के नियमित रूप से प्रचार तथा उन्नयन को और भी आवश्यकता है।

पत्रिका में संस्कृति के सभी अंगों से संबंधित रचनाएं रहती थीं, साथ ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर को मूल कृतियों के प्रामाणिक अनुवाद भी रहते थे। इन मुख्य प्रवृतियों के अतिरिक्त नियमित रूप से दो स्तंभ और प्रकाशित करने का हमारा विचार है। हिंदी भाषा और साहित्य के प्रधान तत्त्वों की शोध और अध्ययन हिंदीभवन के कार्य का एक मुख्य अंग रहा है। अपभ्रंश साहित्य

का अध्ययन, वज्रयान और मध्ययुग की साधना और साहित्य से संबंधित अध्ययन पर हम विशेष रूप से ध्यान देते रहे हैं। हिंदी और भारत के पूर्वीय अंचल की लगभग सभी भाषाओं के साहित्य और चिंताधारा पर वज्रयान तथा तत्संबंधित विचारधाराओं का किसी न किसी रूप में बहुत प्रभाव पड़ा है। सिद्धों का बहुत सा साहित्य मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है किन्तु तिब्बती अनुवादों के रूप में कृतियाँ सुरक्षित हैं। पत्रिका में समय समय पर इनके अनुवाद हम प्रस्तुत करेंगे। इसके अतिरिक्त बंगला, असमिया, उड़िया की मध्ययुगीन वैष्णव काव्यधारा और हिंदी की कृष्णभक्ति काव्यधारा में बहुत साम्य है। वैष्णव पदावली के भी कुछ अंश सानुवाद हम प्रकाशित किया करेंगे। अपनी विशेष स्थिति के फलस्वरूप हिंदी भवन इस कार्य को भलीभांति कर सकेगा। विश्वभारती के बंगला, उड़िया विभागों से हमें पूरा सहयोग मिलेगा।

विश्वभारती पत्रिका को पुनः प्रकाशित करने में सबसे अधिक प्रोत्साहन हमें अपने भूतपूर्व उपाचार्य भारत के उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश श्रद्धेय श्रीसुधीरञ्जन दास से प्राप्त हुआ है। कलकत्ते के सुप्रसिद्ध हल्वासिया ट्रस्ट से आर्थिक सहायता प्राप्त करने में तथा विश्वभारती से पत्रिका के प्रकाशन की व्यवस्था कराने में उन्होंने बड़ी ही सहानुभूति से हमारी सहायता की है। उन्होंने तथा हमारे वर्तमान उपाचार्य डा० कालिदास भट्टाचार्य, शिल्पाचार्य श्रीविश्वरूप बसु तथा आचार्य श्रीहजारी प्रसाद द्विवेदी ने पत्रिका के संपादक मण्डल में रहने की अनुमति देकर हमारे उत्साह को वृद्धि की है।

पत्रिका के पुराने प्रेमियों से हमें सहयोग प्राप्त हो रहा है यह हर्ष की बात है। महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ जी कविराज ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचना भेज कर पत्रिका की गौरव वृद्धि की है। पूज्य विनोबाजी के आशीर्वाद हमें प्राप्त हुए हैं। इससे हमारा उत्साह बढ़ा है। हम सभी के सहयोग की प्रार्थना करते हैं और आशा करते हैं हम अपने को सहयोग के उपयुक्त पात्र सिद्ध कर सकेंगे।

रामसिंह तोमर



दो नारियाँ

चित्रकार—श्री नन्दलाल वसु

विश्वभारती पत्रिका

चैत्र-ज्येष्ठ, २०२३ खण्ड ७, अंक १ अप्रेल-जून १६६६

ऐकतान

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

विपुला ए पृथिवीर कतटुकु जानि।
देशे देशे कत-ना नगर राजधानी—
मानुषेर कत कीर्ति, कत नदी गिरि सिन्धु मरु,
कत-ना अजाना जीव, कत-ना अपरिचित तरु
रये गेल अगोचरे। विशाल विश्वेर आयोजन ;
मन मोर जुड़े थाके अति क्षुद्र तारि एक कोण।
सेइ क्षोभे पड़ि ग्रन्थ भ्रमणवृत्तान्त आछे याहे
अक्षय उत्साहे—
येथा पाइ चित्रमयी वर्णनार वाणी
कुड़ाइया आनि।
ज्ञानेर दीनता एइ आपनार मने
पूरण करिया लइ यत पारि भिक्षालब्ध धने॥

आमि पृथिवीर कवि, येथा तार यत उठे ध्वनि
आमार बाँशिर सुरे साड़ा तार जागिबे तखनि—
एइ स्वरसाधनाय पौँछिल ना बहुतर डाक,
रये गेछे फाँक।

कल्पनाय अनुमाने धरित्रीर महा-एकतान
कन ना निस्तब्ध क्षणे पूर्ण करियाछे मोर प्राण ।
दुर्गम तुषारगिरि असीम निःशब्द नीलिमाय
अश्रुत ये गान गाय,
आमार अन्तरे वारवार
पाठायेछे निमन्त्रण तार ।
दक्षिणमेरुर ऊर्ध्वे ये अज्ञात तारा
महाजनशून्यताय रात्रि तार करितेछे सारा,
से आमार अर्धरात्रे अनिमेष चोखे
अनिद्रा करेछे स्पर्श अपूर्व आलोके ।
सुदूरेर महाप्लावी प्रचण्ड निर्झर
मनेर गहने मोर पाठायेछे स्वर ।
प्रकृतिर ऐकतानस्रोते
नाना कवि ढाले गान नानादिक हते—
तादेर सबार साथे आछे मोर एइमात्र योग
संग पाइ सबाकार, लाभ करि आनन्देर भोग,
गीतभारतीर आमि पाइ तो प्रसाद—
निखिलेर गीतेर स्वाद ॥

सब चेये दुर्गम ये मानुष आपन अन्तराले
तार कोनो परिमाप नाइ बाहिरेर देशे काले ।
से अन्तरमय,
अन्तर मिशाले तबे तार अन्तरेर परिचय ।
पाइने सर्वत्र तार प्रवेशेर द्वार,
बाधा हये आछे मोर वेड़ागुलि जीवनयात्रार ।
चाषि खेते चालाइछे हाल,
ताँति ब'से ताँत बोने, जेले फेले जाल ,—
बहुदूर प्रसारित एदेर विचित्र कर्मभार,
तारि 'परे भर दिये चलितेछे समस्त संसार ।

अति क्षुद्र अंशे तार सम्मानेर चिरनिर्वासने
समाजेर उच्च मञ्चे बसेछि संकीर्ण वातायने।
माझे माझे गेछि आमि ओ पाड़ार प्राङ्गणेर धारे,
भितरे प्रवेश करि से शक्ति छिल ना एकेबारे।
जीवने जीवन योग करा
ना हले, कृत्रिम पण्ये व्यर्थ हय गानेर पसरा।
ताइ आमि मेने निइ से निन्दार कथा—
आमार सुरेर अपूर्णता।
आमार कविता, जानि आमि,
गेलेओ विचित्र पथे हय नाइ से सर्वत्रगामी॥
कृषाणेर जीवनेर शरिक ये जन,
कर्मे ओ कथाय सत्य आत्मीयता करेछे अर्जन,
ये आछे माटिर काछाकाछि,
से कविर वाणी लागि कान पेते आछि।
साहित्येर आनन्देर भोजे
निजे या पारि ना दिते, नित्य आमि थाकि तारि खोँजे।
सेटा सत्य होक,
शुधु भङ्गी दिये येन ना भोलाय चोख।
सत्य मूल्य ना दियेइ साहित्येर ख्याति करा चुरि
भालो नय, भालो नय नकल से शौखिन मज्दुरि।
एसो कवि, अख्यातजनेर
निर्वाक् मनेर।
मर्मेर वेदना यत करियो उद्धार।
प्राणहीन ए देशेते गानहीन येथा चारिधार,
अवज्ञार तापे शुष्क निरानन्द सेइ मरुभूमि
रसे पूर्ण करि दाओ तुमि।
अन्तरे ये उत्स तार आछे आपनारि
ताइ तुमि दाओ तो उद्बारि।

साहित्येर ऐकतान-सगीतसभाय
एकतारा याहादेर ताराओ सम्मान येन पाय—
मूक यारा दुःखे सुखे,
नतशिर स्तब्ध यारा विश्वेर सम्मुखे।
ओगो गुणी,
काछे थेके दूरे यारा, ताहादेर वाणी येन शुनि।
तुमि थाको ताहादेर ज्ञाति,
तोमार ख्यातिते तारा पाय येन आपनारि ख्याति,—
आमि बारबार
तोमारे करिब नमस्कार॥

शान्तिनिकेतन
२१ जनवरी, १९४१

ऐकतान

(हिन्दी छाया)

इस विपुला पृथ्वी को जानता ही कितना हूँ ।
देश-देश में कितने ही नगर-राजधानी हैं—
मनुष्य की कितनी कीर्ति, कितनी नदियाँ गिरि सिन्धु मरु,
कितने ही अनजाने जीव, कितने ही अपरिचित तरु
अगोचर ही रह गए । विशाल विश्व का आयोजन ;
मेरा मन उसी के एक अति संकीर्ण कोने में जुड़ा रहता है ।
उसी क्षोभ से ग्रन्थ पढ़ता हूँ जिनमें भ्रमणवृतान्त हैं
अक्षय उत्साह से—
जहाँ चित्रमयी वर्णना की वाणी पाता हूँ
बटोर लाता हूँ ।
अपने मन की इस ज्ञान की दीनता को
भिक्षालब्ध-धन से जितना संभव है पूरी कर लेता हूँ ॥

मैं पृथ्वी का कवि हूँ, वहाँ उसकी जितनी ध्वनियाँ उठती हैं
मेरी वंशी के सुर में उसी क्षण उसकी ध्वनि ध्वनित होगी—
इस स्वर साधना में बहुत-सी पुकारें नहीं पहुँची,
अवकाश रह गया ।
कल्पना में, अनुमान में धरित्री की महा एकतान ने
कितने ही निस्तब्ध क्षणों में मेरे प्राणों को पूर्ण किया है ।
दुर्गम तुषारगिरि असीम निःशब्द नीलिमा में
जो अश्रुत गान गाता है,
मेरे अन्तर में बारबार
उसका निमंत्रण भेजा है ।
दक्षिणमेरु के ऊर्ध्व में जो अज्ञात तारा है
महाजनशून्यता में उसकी रात बीत रही है,

उसने अर्धरात्रि में निर्निमेष नेत्रों से
मेरी अनिद्रा का स्पर्श अपूर्व आलोक से किया।
सुदूर के महाप्लावी प्रचण्ड निर्झर ने
मेरे मन के गहन में स्वर भेजा।
प्रकृति के ऐकतान स्रोत में
नाना कवियों ने नाना दिशाओं से गान उँडेले हैं—
उन सबके साथ मेरा मात्र इतना ही योग है
सब का संग पाता हूँ, आनन्द के भोग का लाभ करता हूँ,
गीतभारती का मैं प्रसाद पाता तो हूँ—
निखिल के संगीत का स्वाद॥

सब से अधिक दुर्गम है—मनुष्य अपने-अन्तराल में,
बाहर के देशकाल में उसका कोई परिमाप नहीं है।
वह अन्तरमय है,
अन्तर को घुला कर ही उस अन्तर का परिचय मिलता है।
सर्वत्र उसका प्रवेश द्वार नहीं पाता,
मेरी जीवन यात्रा के घेरे बाधा बने हुए हैं।
किसान खेत में हल जोत रहा है,
जुलाहा बैठा तांत बुनता है, मछुआ जाल फेंकता है—
इनके विचित्र कर्मभार बहुत दूर तक प्रसारित हैं
उसी पर निर्भर हो सारा संसार चल रहा है।
उसके छोटे से अंश में सम्मान के चिर निर्वासन में
समाज के उच्च मंच पर संकीर्ण वातायन में बैठा हूँ।
बीच बीच में मैं उस मुहल्ले के प्रांगण के किनारे गया हूँ,
भीतर प्रवेश करूँ ऐसी शक्ति बिल्कुल नहीं थी।
जीवन के साथ जीवन का योग करना
नहीं हो तो, कृत्रिम पण्य द्वारा गान का सौदा व्यर्थ होता है।
इसीसे मैं वह निन्दा की बात मान लेता हूँ
अपने सुर की अपूर्णता।

मेरी कविता, मैं जानता हू ,
विचित्र पथ पर चलने पर भी वह सर्वत्रगामी नहीं हुई ॥

किसान के जीवन में जो लोग शरीक हैं,
करनी और कथनी द्वारा सच्ची आत्मीयता अर्जित की है,
जो मिट्टी के समीप हैं,
उस कवि की वाणी के लिए कान लगाए हुए हूँ ।
साहित्य के आनन्द भोज में
स्वयं जो नहीं दे पाता, नित्य मैं उसी की खोज में रहता हूँ ।
वह सत्य हो ;
केवल भाव-भंगी से कहीं आँखों को भुलावा न दे।
सच्चा मूल्य बिना दिए ही साहित्य की ख्याति चोरी करना है।
ठीक नहीं, ठीक नहीं वह नकल है, वह शौकीनी मजदूरी है ।
आओ कवि, अख्यात जन के
निर्वाक् मन के
मर्म की जितनी वेदना है उसका उद्धार करो ;
प्राणहीन इस देश में जहाँ चारों ओर गानहीन है
वह मरुभूमि अवज्ञा के ताप से शुष्क निरानन्द है
तुम रस से पूर्ण कर दो ।
उसके अपने ही अन्तर में जो उत्स है
उसे तुम उन्मुक्त कर दो ।
साहित्य की ऐकतान संगीत सभा में
जिनका एकतारा है वे भी जिससे सम्मान पाएँ —
दुःख-सुख में जो मूक हैं,
जो विश्व के सम्मुख नतसिर स्तब्ध हैं,
ओ गुणी,
जो पास होकर भी दूर हैं उनकी वाणी जिससे मैं सुनू ।
तुम उन्हीं के सजातीय रहना,

तुम्हारी ख्याति में वे जिससे अपनी ही ख्याति को प्राप्त करे—
मैं बारबार
तुम्हें नमस्कार करूँगा ॥

शान्तिनिकेतन
२१ जनवरी, १९४१

भूमिका*

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अपेक्षाकृत आधुनिक काल के हिन्दी काव्यसाहित्य को पढ़ते हुए देखा कि हिन्दुस्तानी ख्याल-टप्पा के समान ही उसकी तान उसके मान को हमेशा ही पीछे छोड़ती आई है। अलंकार ही उसका लक्ष्य बना, मूर्ति उपलक्ष्य रही।

कवि जब सत्य की उपलब्धि करता है तब समझ जाता है कि सत्य का प्रकाश सहज ही सुन्दर है। इसीलिए तब वह सत्य के रूप को लेकर ही तन्मय हो जाता है, उसके अलंकारों के आडम्बर की ओर ध्यान नहीं देता। वैष्णव-पदों में पढ़ा है, जब राधा कृष्ण के साथ मिलन चाहती हैं, तब गले की माला मात्र का व्यवधान भी उन्हें सह्य नहीं। तात्पर्य यह कि कृष्ण ही उनके लिए एकान्त सत्य हैं; उस सत्य की प्राप्ति के लिए अलंकार केवल बाहुल्य ही नहीं, बल्कि बाधा है।

जगत् के समान ही साहित्य में भी विषयासक्त व्यक्ति मिलते हैं। विषयी व्यक्ति का लक्षण ही है, वे सत्य को नहीं प्राप्त कर पाते इसीसे वस्तु की अतिरंजना करते हैं। साहित्य में भी रस नामक वस्तु के प्रति यदि सहज मर्मज्ञता नहीं रहती तभी कौशल के परिमाण को लेकर उसका मूल्यांकन किया जाता है। रस सत्य के अन्तर का प्रकाश है, और कौशल है उसका बाहरी उपसर्ग, इसीसे बाहरी वाहन भीतरी सत्य को ढँककर अपना गर्व दिखाता है। इस कारण रसिक व्यक्ति को ठेस पहुँचती है और विषयी व्यक्ति वाहवाही देते रहते हैं।

जब मेरे लिए अपरिचित हिन्दी साहित्य जगत् में काव्य के विशुद्ध रस-रूप को ढूँढ़ रहा था, उस समय एकदिन क्षितिमोहन सेन महाशय के मुख से बघेलखण्ड के कवि ज्ञानदास के दो-एक हिन्दी पदों की भनक कानों में पड़ी। मैं कह उठा, यही तो मिल गयी। असली चीज, एकदम चरम वस्तु, इसके आगे और तान की पहुँच नहीं।

अलंकार का स्वभाव ही है, समय समय पर उसमें परिवर्तन होना। किसी समय बाज़ार में एक प्रकार का फैशन प्रचलित रहता है, तो अन्य समय दूसरे प्रकार का। प्राचीन काल में अनुप्रास, वक्रोक्ति को बड़ा आदर प्राप्त था। आज वह अल्प आभास में ही प्रकट है, अधिक सह्य नहीं। किसी काव्य की प्राचीनता की पहचान उसकी पुरानी सज-धज में है। जहाँ साज-सज्जा का बाहुल्य नहीं, सत्य अपने सहज रूप में प्रकाशमान है, वहाँ काल की लकीर

---

* आचार्य क्षितिमोहन सेन के ग्रंथ 'दादू' की भूमिका।

किस पर खिंचेगी ? वहाँ अलंकार के बाज़ार भाव के घटने-बढ़ने की खबर ही नहीं पहुँचती। समय-समय पर हाट की मोहर छाप लगावे ऐसी मरियल चीज उसके पास है कहाँ ?

जब ज्ञानदास की कविता सुनी तब यही बात बारबार मन में आई कि यह तो आधुनिक है। आधुनिक से मेरा मतलब यह नहीं कि इसी काल की विशिष्ट आकार की वस्तु हो। ये सब कविताएँ नित्य ही आधुनिक रहती हैं। कभी भी कोई यह नहीं कह सकता कि इनका फैशन बदल गया है। हमारे प्राचीन बंगला साहित्य में अल्प संख्यक ही कविताएँ ऐसी हैं जिनके सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह लागू होती है। ये यदाकदा ही मिलती हैं तब पुरातन के बीच चिरन्तन को देखकर मैं चौंक उठता हूँ। जैसे दो पंक्तियाँ सहसा मुझे स्मरण हो आईं —

"तोमार गरवे गरबिनी आमि
रूपसी तोमार रूपे।"

अर्थात् तुम्हारे गर्व से गर्वीली मैं,
तुम्हारे रूप से रूपसी।

'तुम्हारे रूप से रूपसी',—यह बात कोई बँधे बँधाये दस्तूर की बात नहीं है। बँधा-बँधाया दस्तूर तो बहुत ही भीरु होता है, नजीर का किला तैयार करके वह सरदारी करता है। गर्वीली गर्व को छोड़ कर कहती है, मेरा रूप मेरा नहीं, यह तुम्हारा ही है,—ऐसी बात उसकी जबान पर ही नहीं आती, वह सिर पर हाथ रखकर सोचती है, इतनी बड़ी अत्युक्ति के लिए नजीर कहाँ ? जो नजीर रचते हैं, नजीर का अनुसरण नहीं करते, वे ही आधुनिक हैं, सदा आधुनिक।

क्षितिबाबू की कृपा से क्रमश हिन्दुस्तान के और भी कुछ साधक कवियों के साथ मेरा कुछ कुछ परिचय हुआ। आज मेरे मन में सन्देह नहीं कि किसी समय हिन्दी भाषा में जिस गीत-साहित्य का आविर्भाव हुआ था, उसके गले में अमर सभा की वरमाल्य है। अनादर की ओट में आज उसका बहुत सा अंश आच्छन्न है, उसका उद्धार होना चाहिए, और इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि जिससे भारतवर्ष में जो हिन्दी भाषा नहीं जानते वे भी भारत के इस चिरकालीन साहित्य में अपने उत्तराधिकार गौरव की उपलब्धि कर सकें।

इन काव्यों में जो रस, सघन रूप में प्रकाशित हुआ है, वह है भगवान के प्रति प्रेम रस। यूरोपीय साहित्य में हमने ईश्वर सम्बन्धी काव्य रचनाएँ कुछ कुछ पढ़ी हैं, बारबार अनुभव हुआ कि मिजराव ही कठोर होकर आवाज कर रही है लेकिन तार ठीक मिलकर नहीं बज रहे हैं। इसी कारण ईसाई धर्म संगीत की किताबें साहित्य के अन्तःपुर में प्रवेश न पा सकीं, गिर्जाघरों

में ही आबद्ध रहीं। असली बात यह है कि शास्त्रों के जो भगवान धर्म-कर्म में प्रयुक्त होते हैं, वे सनातन पंथी धार्मिक व्यक्तिओं के भगवान हैं, उनको लेकर आनुष्ठानिक श्लोक प्रचलित हैं; उनके लिए अनेक मंत्र-तंत्र हैं; और जिस भगवान को अपनी आत्मा में भक्त ने सत्य रूप में देखा है, जो अहेतुक आनन्द के भगवान हैं, उन्हीं को लेकर गान गाया जाता है। सत्य को पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वोणा में।

कवि वर्डसवर्थ ने आक्षेप करते हुए कहा है कि जगत के साथ हम बहुत ज्यादा घनिष्ठ रूप से संलिप्त हैं। दरअसल जगत् के साथ हम संलग्न हैं ही नहीं, अत्यन्त असंलग्न रूप से युक्त हैं। आज इतनी जरूरत है, कल उतनो, आज यहाँ बुलावा है, कल वहाँ। (हम) पूरे मन से सम्पूर्ण विश्व को नहीं देखते। हमारी जरूरत के साथ उसका कुछ जुड़ा, कुछ छिन्न, कुछ विरुद्ध है। प्रतिदिन के इस लेन देन के जगत में हमारी हिसाबी बुद्धि ही मन के अन्य सब विभाग को कम-ज्यादा परिमाण में दबाए रखकर बड़प्पन दिखाती फिरती है। वह हिसाबी बुद्धि गिनती करती है, वजन करती है, नाप लेती है, भाग करती है, उसके पास से हमें बहुत-सी खबरें मिलती हैं, उसके योग से छोटे-बड़े अनेक विषयों में सिद्धिलाभ भी होता है, अर्थात् उसका जगत् लाभ का जगत है, किन्तु विशुद्ध आनन्द जगत् नहीं।

इसके पूर्व कहीं कहीं यह समझा कर कहने को (मैंने) कोशिश की है कि जहाँ स्वार्थ से परे, प्रयोजन से परे, मनुष्य के विशेष किसी वास्तविक लाभ-हानि से परे किसो एक इकाई की पूर्णता (हम) हृदय में अनुभव कर पाते हैं वहीं हमारा विशुद्ध आनन्द है। ज्ञान-जगत् में भी उसका परिचय मिला है, अनुभव किया-छिटपुट तथ्य मन के लिए बोझ स्वरूप हैं, ज्योंही किसी मात्र एक तत्त्व में वह विछिन्न 'बहु' पकड़ाई दे जाता है त्योंही हमारी बुद्धि आनन्दित होती है, वह कहती है (मैंने) सत्य को प्राप्त कर लिया। इसलिए हम जानते हैं कि ऐक्य ही सत्य का रूप है, और आनन्द ही उसका रस।

अधिकांश मनुष्य को ही हम अनेक की भीड़ के बीच देखते हैं, विपुल अनेक में वे अनिर्दिष्ट हैं। (हम) जिस मनुष्य को स्नेह करते हैं, साधारण अनेक के बीच वह विशेष एक है। इस निविड़ ऐक्य बोध के कारण ही बन्धु हमारे लिए लाख-हजार अबन्धु की तुलना में सत्यतर है। बन्धु को जैसे विशेष एक के रूप में (हम) देखते हैं, विश्व के अन्तरतम एक को भी यदि वैसे ही स्पष्ट रूप में देख पाएँ तब जान सकेंगे कि वह सत्य आनन्दमय है। अपनी आत्मा में एक की उपलब्धि यदि वैसे ही सत्य होकर प्रकाशित हो तो जीवन के सुख-दुःख, लाभ-हानि में कहीं भी मेरे आनन्द में विच्छेद न घटे। जब तक हमें वह उपलब्धि नहीं होती तब तक हमारा चैतन्य विश्व सृष्टि में विच्छिन्न रहता है। जब (हम) उस उपलब्धि के बीच

जा पहुँचते हैं तब हमारा चैतन्य अखण्ड भाव से उस सृष्टि संगीत का ही अंग बन जाता है। तब वह मात्र केवल जानता ही नहीं, मात्र करता ही नहीं, सम्पूर्ण के साथ सुर में ध्वनित हो उठता है।

सृष्टि-असृष्टि में यही अन्तर है कि सृष्टि में अनेक आत्मीय एकत्व को ही दिखाते हैं और असृष्टि में अनेक आत्मीय विच्छिन्न बहुत्व को ही दर्शाते हैं। समाज मनुष्य की एक बड़ी सृष्टि है—जहाँ प्रत्येक मनुष्य दूसरे के साथ अपने सामाजिक ऐक्य को दिखलाता है, और भीड़ असृष्टि है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति ठेला ठेली कर स्वयं को ही स्वतंत्र दिखाता है, और दगाबाजी अनासृष्टि है जिसमें केवल मात्र परस्पर का अनैक्य ही नहीं, विरुद्धता है। इमारत है सृष्टि, ईंटों का ढेर है असृष्टि, और जब दीवाल टूटकर ईंटें धड़धड़ा कर गिर पड़ती हैं वह है अनासृष्टि।

यह ऐक्य वस्तुओं के एकत्रित होने में नहीं, यह एक अनिर्वचनीय अदृश्य सम्बन्ध का रहस्य है। फूल में जिस ऐक्य को देखकर हम आनन्दित होते हैं वह उसके वस्तुपिण्ड में नहीं, वह उसके गहरे अन्तर्निहित एक ऐसे सत्य में है जो सारे विश्वजगत में एक के साथ दूसरे को निगूढ़ सामंजस्य के साथ धारण किए हुए है। इस सम्बन्ध का सत्य मनुष्य को आनन्द देता है, उसे भी सृजन कार्य में प्रवृत्त करता है।

मनुष्य के अन्तर्वर्ती उस सृष्टिकर्ता ने मध्ययुग के साधकों में जिस भगवान का स्पर्श पाया था, वे शास्त्रों में वर्णित कोई नहीं, वे मन-प्राण हृदय में आविष्कृत अद्वैत परमानन्द रूप हैं। इसी कारण मन्त्रोच्चारण द्वारा उनकी पूजा नहीं हुई, गान द्वारा उनका आह्वान नहीं किया गया। वे प्रत्यक्ष सत्य रूप में जीवन में आविर्भूत हुए थे इसी कारण उन्होंने सहज-सुन्दर रूप में काव्य में प्रकाश पाया।

अंग्रेज कवि शेली ने अपनी सौंदर्य लक्ष्मी स्तव नामक कविता में कहा है, एक अदृश्य शक्ति की महनी छाया विश्व में हमारे मध्य फिरती फिर रही है। वह छाया चंचल है, मधुर है, रहस्यमय है, हमारी प्रिय है। उसीके आविर्भाव में हमारी पूर्णता है, उसीके अभाव में हमारा अवसाद है। मन में प्रश्न उठता है जिनकी यह छाया है—उनसे क्षण-क्षण पर हमारा विच्छेद क्यों? जगत् में सुख-दुःख, आशा-निराशा, राग-द्वेष का यह निरन्तर द्वन्द्व क्यों? कवि कहता है, शास्त्र में, जनश्रुति में, देवता, दैत्य, स्वर्ग आदि जिन सब चीजों की कल्पना मिलती है, उनके नाम सम्बोधन द्वारा प्रश्न पूछने पर उत्तर कहाँ मिलता है? कवि ने नाना प्रकार से चेष्टा की, तत्त्व-वस्तु को जानने के लिए भग्न घर के शून्य कमरों, अंधकारपूर्ण गुहा गह्वरों में भूत-प्रेतों को खोजता फिरा, पर न तो कोई दिखा न ही कोई बोला। आखिर एकदिन वसन्त में

जब दक्षिण पवन के आन्दोलन से वन-उपवन में प्राणों की गोपन-वाणी जागने को हो थी इसी समय सहसा उनके हृदय में इस सौन्दर्य-लक्ष्मी का स्पर्श उतर आया, क्षण भर में उनके संशय मिट गए। शास्त्रों में जिन्हें नहीं खोज पाया वे जब सहसा चित्त में पकड़ाई दे गए, तभी जगत् के समस्त द्वन्द्वों में एक का आविर्भाव प्रकाशित हुआ, तब कवि ने देखा, जगत् की मुक्ति यहीं है, इसी महासुन्दर के बीच है। तभी कवि का आत्मनिवेदन गानों में उच्छ्वसित हो उठा।

हमारे साधक कवियों के हृदय से भी गान का उत्स इसी प्रकार फूट निकला। उन्होंने राम को, आनन्द स्वरूप परम एक को अपनी आत्मा के बीच प्राप्त किया था। प्रायः वे सभी अन्त्यज समाज के निम्नस्तर के थे; पंडितों का बँधा-बँधाया शास्त्र विधान, धार्मिकों के बँधे-बँधाये नियम-आचार उनके लिए सुगम नहीं थे। बाहर का पूजा-मन्दिर उनके लिए बन्द था इसी कारण मन के मिलन-मन्दिर की कुंजी उन्होंने ढूँढ़ कर पाई थी। उन्होंने कितने ही शास्त्रीय शब्द अन्दाजन व्यवहृत किए, शास्त्र के साथ उनका अर्थ साम्य नहीं। उनके यह प्रत्यक्ष उपलब्धि वाले राम किसी पुराण में नहीं हैं। तुलसीदास के समान भक्त कवि भी उनके इस बन्धनहीन साधन-भजन से बहुत नाराज थे। उन्होंने समाज के बाहरी घेरे के अन्दर से इन लोगों को देखा था, एकदम ही नहीं पहचाना।

ये एक विशिष्ट जाति के लोग हैं। क्षितिबाबू से सुना है कि हमारे देश में इस दल के लोगों को 'मरमिया' कहते हैं। इनकी दृष्टि, इनका स्पर्श मर्म के भीतर है; इनके निकट सत्य की बाहरी मूर्ति नहीं, उसके मर्म का (अन्तर का) स्वरूप है। (जो) बँधे बँधाए मार्ग पर सावधानी से चलते हैं, उन्हें सहज ही सन्देह हो सकता है कि इनका देखना, इनका कहना सब शायद पागलों की सनक है। फिर भी सभी देशों, सभी कालों में ऐसे दल के लोगों के अनुभवों तथा वाणी में हमें सादृश्य मिलता है। सभी पेड़ की लकड़ियों से (हम) एक ही प्रकार की आग निकलती देखते हैं। उन्होंने वह आग किसी चूल्हे से माँगकर नहीं ली—चारों ओर से अपने ही आप वह प्रज्वलित हुई। पेड़ के पत्ते सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही एक जाग्रत शक्ति के बल से हवा से कार्बन छान लेते हैं, उसी प्रकार मानव-समाज में सर्वत्र ही इन मरमिया लोगों में एक सहज शक्ति दिखती है, ऊपर से उनके मन में प्रकाश पहुँचता है और वे चारों ओर के वातावरण से स्वयं ही सत्य के तेजःस्वरूप को अपने भीतर धारण करते हैं, पुरानी पोथियों के भण्डार से, शास्त्र वचन के सनातन संकलन से चुन-चुनकर उनका संग्रह नहीं करते। इसी कारण इनकी वाणी ऐसी नवीन है जिसका रस कभी नहीं सूखता।

अनन्त को ज्ञान की सीमा मे सीमित नहीं किया जा सकता, इसीसे ऋषियों का कहना है कि उसे न पाकर मन लौट आता है। उस अनन्त के समस्त रहस्यों को हटा कर उसे सम्प्रदाय का ईश्वर, शास्त्रवाक्य का ईश्वर, दस्तावेज में दस आदमियों के मिलकर दस्तखत द्वारा स्वीकृत कर हाट बाजार में, भीड भाड़ में हरिबोल का ईश्वर बना लेते हैं। उस वरदाता, उस त्राणकर्ता, उन निर्दिष्ट सिद्धान्तों के फ्रेम से मढ़े हुए ईश्वर की कल्पना एकदम पत्थर के समान कठोर है, उसे हस्तगत कर साम्प्रदायिक मुट्ठी में खोंसा जा सकता है, परस्पर सिर फोड़ाफोड़ी करना सहज होता है। हमारे मरमियों के ईश्वर किसी एक पुण्याभिमानी विशेष दल के सरकारी ईश्वर नहीं, वे प्राणेश्वर हैं।

क्योंकि ऋषियों ने कहा है कि ज्ञान द्वारा वे प्राप्य नहीं, आनन्द द्वारा ही प्राप्य हैं। अर्थात् हृदय जब अनन्त का स्पर्श करता है तब मन प्राण उन्हें अमृत तुल्य अनुभव करता है और इस निबिड़ रसबोध द्वारा ही समस्त संशय मिट जाते हैं। शेली ने उसी अनुभव का गान गाया है, मरमिया कवियों के कण्ठ में भी उसी अनुभव के गान हैं। जो रहस्य है, ज्ञान के सम्मुख वह मात्र केवल अन्धकार है, यह कह सकते हैं कि वह बिल्कुल है ही नहीं। किन्तु जो रहस्य है, हृदय के लिए वही गहन आनन्द है। उसी आनन्द द्वारा ही हृदय असीमता के सत्य को प्रत्यक्ष पहचान पाता है। तब वह कोई बँधी रीति नहीं मानता, किसी मध्यस्थ को मध्यस्थता के लिए पास फटकने नहीं देता।

जिसे अमृत का रसबोध नहीं हुआ, वही भय, क्षुधा, क्षमता को स्वीकार करता है। वह एक ऐसे देवता को मानता है जो वरदान देते हैं अथवा दण्ड, जिनके दक्षिण मे स्वर्ग और बाएँ नरक है, जो दूर बैठे कठोर हुक्म से विश्वशासन चला रहे हैं, जिन्हें पशुबलि द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है, जिनके गौरव प्रचार के लिए पृथ्वी को रक्त में डुबा देना पड़ता है, जिनका नाम लेकर मानव समाज में इतने भेद विभेद, परस्पर के प्रति इतनी अवज्ञा, इतने अत्याचार हैं।

भारत के मरमिया कवि लोगों ने शास्त्र निर्मित प्रस्तर के घेरे से भक्तों के मन को मुक्ति दी थी। देव मन्दिर के आंगन से रक्तपात की कलंकरेखा को प्रेमाश्रुजल से धो देना ही उनका कार्य था। जिनका आविर्भाव भीतर से आनन्द के आलोक द्वारा मनुष्य के सब भेदों को मिटा देता है, उसी राम के वे दूत थे। भारत के इतिहास की निशीथ रात्रि में जब भेदों का पिशाच विकराल नृत्य कर रहा था तब उन्होंने उस पिशाच को स्वीकार नहीं किया। अंग्रेज मरमिया कवि ने जैसे दृढ़ विश्वास के साथ कहा था कि विश्व की मर्माधिष्ठात्री देवी आनन्दलक्ष्मी ही मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्ति देंगी, वैसे ही वे निश्चय ही जानते थे कि जिसके आनन्द में

वे अपने आपको अहमिका के वेष्ठन से मुक्त कर सके थे, उसीके आनन्द में मनुष्य की भेदबुद्धि दूर हो सकती है ; बाहर के किसी समझौते द्वारा नहीं। वे अभी तक कार्य कर रहे हैं। आज भी जहां कहीं हिन्दू-मुसलमानों में आन्तरिक प्रेम का योग देखता हूँ वहीं पाता हूँ यह मार्ग उन्हीं के द्वारा बनाया गया है। उनके जीवन, उनके गान से उस मिलन देवता की पूजा प्रतिष्ठा हुई है, जो "सेतुविधरणरेषां लोकानामसम्भेदाय।" उन्हीं के बाद के साधक लोग आज भी बंगाल के गाँव-गाँव में एकतारा बजाकर गाना गाते फिरते हैं ; उनके इस एकतारा का एक तार उसी ऐक्य का तार है। भेदबुद्धिवादी पण्डे शास्त्रज्ञों का दल उनके ऊपर डंडा ताने हुए है। किन्तु अब तक जो सामाजिक अवहेलना से मरे नहीं, वे आज सामाजिक शासन के सामने पराजय स्वीकार करेंगे यह बात मैं मान नहीं सकता।

चूँकि भारतीय समाज अनेकों भेद लिए हुए है, यहाँ नाना भाषाएँ, नाना धर्म, नाना जातियाँ हैं इसीलिए भारत की मर्मवाणी ऐक्यवाणी है। और इसीलिए जो यथार्थतः भारत के श्रेष्ठ पुरुष हैं उन्होंने मानव की आत्मा-आत्मा के बीच सेतु निर्माण करना चाहा है, चूँकि बाह्याचार भारत में नाना प्रकार से भेद को ही पक्का बनाए हुए हैं इसीलिए भारत की श्रेष्ठ साधना है बाह्याचार के परे अन्तर के सत्य को स्वीकार करना। भारतवर्ष के महापुरुषों के आश्रय में परम्परा से यह साधना की धारा सदा से चली आ रही है। लेकिन भारतीय समाज की बाहरी हालत के साथ उसकी आभ्यंतरिक साधना में सदा ही विरोध रहा, जैसा विरोध झरने का उसके प्रवाह-पथ के पत्थरों के साथ है। किन्तु अचल बाधा को सत्य मानें या चल प्रवाह को? संख्या की गिनती करें तो बाधाओं की ही जीत होती है, उनका भार भी कम नहीं, किन्तु इसीसे उसे प्राधान्य नहीं दिया जा सकता, झर-झर करता हुए जो थोड़ा-सा जल शैलराज की वक्ष गुहा से निकल रहा है, अनेक घात-प्रतिघातों के बीच से विपुल विस्तीर्ण बालुकाराशि के एक किनारे से किसी प्रकार मार्ग बनाए हुए समुद्र की खोज में चल निकला है, उसकी लहरी में पर्वत की वर्फ पिघली वाणी है। यह क्षीण स्वच्छ प्रच्छन्न धारा ही महायतन की अनेक विच्छिन्नता के बीच का ऐक्य सूत्र है।

भारत की वाणी वहन करते हुए जो लोग एक के ही दूत के रूप में इस देश में जन्मे हैं उन्हें आरम्भ से ही आदर मिला हो ऐसा नहीं है। देश के लोग जब बिल्कुल ही उन्हें अस्वीकार न कर सके तब बहुत-सी काल्पनिक कहानियों द्वारा उनकी स्मृति को संशोधित कर लेना चाहा, जितना संभव था उतना उनके चरित पर सनातनी रंग की तूलिका फेरी फिर भी भारत की इन श्रेष्ठ सन्तानों को अनादर पाने में बाधा मिली थी, यह स्मरण रखना होगा ; आदर न पाना ही स्वाभाविक था, क्योंकि वे भेद-प्रवर्तक सनातन विधि के घेरे के बाहर के आदमी थे, जैसे ईसा

थे यहूदी फैरिसी घेरे के बाहर। किन्तु वे बहुत दिनों तक अनादर की असाम्प्रदायिक छाया द्वारा प्रच्छन्न थे इस कारण वे अभारतीय थे ऐसी बात नहीं है। वे ही असली भारतीय थे, क्योंकि उन्होंने बाहरी किसी सुविधा के कारण नहीं आन्तरिक आत्मीयता के कारण ही हिन्दू-मुसलमान को समान भाव से देखा था—उन्होंने ही ऋषियों के उस वचन को साधना के बीच प्रमाणित किया जिसके अनुसार सत्य को उन्होंने ही जाना है जिन्होंने सब में अपने को देखा है।

इन भारतीय साधकों की साधनाधारा वर्तमान युग में राममोहन राय की जीवनी में प्रस्फुटित हुई। इस युग में उन्होंने उपनिषद् के ऐक्यतत्त्व के प्रकाश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब को सत्यदृष्टि से देखा था, उन्होंने किसी का भी बहिष्कार नहीं किया। बुद्धि के गौरव और हृदय की उदारता से उन्होंने भारत के इस बाह्य भेद के बीच आध्यात्मिक अभेद की उज्ज्वल रूप से उपलब्धि की और उस अभेद के प्रचार के कारण ही आज भी देशवासियों द्वारा वे निरस्कृत हैं। जिनकी निर्मल दृष्टि के सामने हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाइयों के शास्त्र ने अपनी दुरूह बाधा को हटा दिया था, उन्हें आज वे ही लोग अभारतीय कहने का दुस्साहस कर रहे हैं जिनमें पाश्चात्य विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी विद्या के प्रति आसक्ति नहीं है। आधुनिक युग में भी राममोहन राय ने हमारे देश में जन्म लिया है, इससे यह सिद्ध होता है कि कबीर, नानक, दादू आदि ने भारत की जिस सत्य साधना को वहन किया था आज भी उस साधना के प्रवाह ने हमारे प्राणों के क्षेत्र को नहीं त्यागा है। भारत चित्त का उज्ज्वल पथ उद्घाटित होगा ही।

मिट्टी के नीचे जल का सोता बह रहा है, बिल्कुल शुष्कता के दिन में इस आशा का स्मरण दिलाना होगा। मरुभूमि का बाड़ा लोहे के बाड़े से कहीं अधिक दुस्तर है। हमारे देश में उस शुष्कता, उस अप्रेम का बाड़ा ही सर्वाधिक सर्वनाशक होकर चारों ओर प्रसारित हो रहा है। प्रयोजन का योग मशक में पानी भर ले जानेवाले व्यापारियों के योग के समान है। वह क्षण-क्षण में विशेष किसी काम में भी आ जाता है, कभी नहीं भी आता है, रेत की आँधी सब ढक लेती है, मशक का पानी गर्म हो जाता है, सूख जाता है, छेद से खाली हो जाता है। इस मरुभूमि में जहाँ मिट्टी के नीचे चिरवहमान छिपा हुआ जल उत्सारित हो फूट पड़ता है वहीं त्राण है। मरमिया कवियों का वाणी-स्रोत समाज के अगोचर स्तर के बीच से बह रहा है, शुष्कता का बाड़ा तोड़ने का यथार्थ उपाय उस प्राणमयी धारा में ही है। उसका उद्धार कर आज उसे साहित्य की ऊपरी सतह पर लाना होगा। हमारे पुराण में (वर्णित) है जो सगरवंश भस्म होकर रसातल में पड़ा था, उसी को जीवन दान देने के लिए विष्णुपादपद्म-

विगलित जाह्नवी धारा को वैकुण्ठधाम से लाया गया था। इसमें मर्म अर्थ यह है कि हृदय जहाँ दग्ध हो चुका है वहां उसे रस प्रवाह द्वारा ही जीवित किया जा सकता है, केवलमात्र किसी एक धर्म के आवर्तन से उसे हिलाया भर जा सकता है, जीवित नहीं किया जा सकता। मृत्यु से मनुष्य-चित्त को त्राण देने के लिए वैकुण्ठ के अमृत रस प्रवाह पर हमारे मरमिया कवियों ने दृढ़ आस्था दिखलाई थी, किसी एक बाह्याचार के राजीनामे पर नहीं। वे जिस रस-धारा को वैकुण्ठ से लाए थे; हमारे देश के सामाजिक रेत के नीचे वह अन्तर्हित है। पर वह मरी नहीं है। क्षितिमोहन बाबू ने बंगाल के उस लुप्त स्रोत के उद्धार का उत्तरदायित्व लिया है। केवलमात्र हिन्दी भाषा से ही नहीं, आशा लगाए हूँ कि बंगला भाषा की गुहा से भी बाउलों की उस स्वर्ण रेखा की वाणी धारा को प्रकाश में लाएँगे जिसमें स्वर्ण कण छिपे हुए हैं।

अनु०—कणिका तामर

अमरत्व-साधन (तान्त्रिक तथा कौलिक प्रक्रियानुसार)

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

साधारणत यह सर्वप्रसिद्ध है कि कौलसम्प्रदाय तान्त्रिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत है, परन्तु यह बात सत्य होने पर भी प्राचीन आगम ग्रन्थ आदि देखने पर प्रतीत होता है कि कौल सम्प्रदाय का किसी किसी अंश में प्रभेद भी था। इस विषय में प्रत्यभिज्ञाहृदयकार ने भी कुछ प्रमाण प्रदर्शित किये है , किन्तु मैं इस लेख में अमरत्व-साधन के विषय में उभय सम्प्रदाय में दृष्टि भंगी एव प्रक्रिया का जो भेद रहा है इस विषय मे कुछ कहना चाहता हूँ।

यह कहना अनुचित नहीं मालूम होता है कि दोनों प्रक्रियाओं मे जो भेद है, वह वास्तव-भेद है, कल्पित नहीं। 'अमरत्व' शब्द से इस प्रसग में समझना चाहिये दिव्य देह को प्राप्ति। जिस देह का परिचय हमें सर्वदा मिलता है, वह यह जड़ देह है और पञ्चभूतात्मक पिण्डरूप है। यह देह काल के आधीन होकर निरन्तर परिणाम को प्राप्त होता है। 'जायते' 'अस्ति' 'विपरिणमते' 'वर्द्धते' 'अपक्षीयते' और 'नश्यति'—ये [redacted] प्रकार के भावविकार इस देह में लागू रहते हैं, अर्थात् जन्म के बाद से ही इस देह में क्रमिक परिणाम होता रहता है, और अन्त मे देह का नाश भी हो जाता है। इस देह की पृष्ठभूमि में लिङ्गदेह और लिङ्ग के अन्तराल में कारणदेह भी वेदान्तशास्त्र मे माना जाता है। ये सब देह प्रकृति या माया से उद्भूत और नश्वर भी हैं। ये सभी देह त्रिगुणात्मक हैं। किसी किसी सम्प्रदाय के अनुसार मायिक कारणदेह के ऊर्ध्व में महामाया का देह भी माना जाता है, महामाया का नामान्तर 'विन्दु' है , इसलिये इस देह को बैन्दवदेह भी कहा जाता है। विन्दु, महामाया, कुण्डलिनी, चिदाकाश—ये सब समानार्थक शब्द हैं।

मायिक जगत् के ऊर्ध्व में एक शुद्ध जगत् है, जो मायाजनित शुद्ध अचित् उपादान से बना हुआ है, परन्तु यह जगत् ठीक चिन्मय न होने पर भी ज्योतिर्मय है। इस जगत् का उपादान है बिन्दु अथवा महामाया। सिद्धान्त शैवादि सम्प्रदायों मे इसका विशेष विवरण मिलता है। यह त्रिगुणात्मक नहीं, परन्तु शुद्ध अचिद् रूप है, इसके ऊर्ध्व में शाक्त भूमि है जो विशुद्ध चिन्मय है। मायिक जगत् का शासन व निरीक्षण करनेवाले 'अधिकारी' सब इस महामाया के जगत् मे रहते हैं, और उन सब के देह, इन्द्रिय तथा विषय भी बैन्दव हैं। वैष्णवों की दृष्टि भी इसी प्रकार की है। जिसे हम 'विन्दु' कहते हैं, उसका वैष्णवशास्त्रीय नाम है 'विशुद्ध सत्त्व' , यह त्रिगुणात्मक नहीं है, इस सत्त्व में रजस् या तमस् बिल्कुल नहीं रहता, इसे अप्राकृत सत्त्व कहते हैं। पञ्चरात्र आगम और उस आगम के अनुसरणकारी वैष्णव सप्रदायों में विशुद्धसत्त्व का विशेष विवरण मिलता है। प्राकृत गुणों की सत्ता व क्रिया न रहने के कारण

इस देह को अप्राकृत माना जाता है, परन्तु है वह अचित, अथच शुद्ध है। भगवान् पतञ्जलि ने ईश्वर की उपाधि-रूप में प्रकृष्ट सत्त्व का उल्लेख किया है, वही अप्राकृत विशुद्ध सत्त्व है, इस में कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह ध्यान रखना पड़ेगा कि यह अप्राकृत देह भी वस्तुतः चिन्मय देह नहीं है। इस प्रकार अप्राकृत देह में खण्डकाल के प्रभाव से परिणाम नहीं होता है; परन्तु तान्त्रिक दृष्टि से इसकी भी निवृत्ति हो जाती है, इसीलिये वह भी महाकाल के आधीन है। यथार्थ नित्य देह जो है, वही वस्तुतः दिव्य देह है, जिसकी प्राप्ति से अमरत्व-सिद्धि होती है। तान्त्रिक योगी लोग कहते हैं कि सूक्ष्म ध्यान से इस मार्ग में यथार्थ सत्ता का उन्मेष होता है; परन्तु इस सूक्ष्म ध्यान की प्रक्रिया तान्त्रिकसम्प्रदाय-सम्मत भी है; और उससे भिन्न कौलिक सम्प्रदाय में भी है। दोनों सम्प्रदायों के अनुसार इस प्रक्रिया में किसी-किसी अंश में भेद है।

तान्त्रिक पद्धति वस्तुतः एक प्रकार की स्थूल प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम योगी को प्राणशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। कन्दस्थल में स्पन्दशक्ति से आविष्ट प्राणशक्ति की सहायता लेकर विशुद्ध संकोच-विकास प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म प्राणशक्ति को जगाना पड़ता है। इस प्रकार से जगाना पड़ता है मानो मन इस व्यापार को निविष्ट होकर देख सके; क्योंकि मानसिक दृष्टि से ही इस व्यापार को देखना होता है। इसके प्रभाव से आवेश उत्पन्न होता है। इतनी प्रक्रिया सम्पन्न होने पर कालाग्नि शक्ति का अवलम्बन करना आवश्यक होता है। उसके लिये दोनों पैरों के अंगुष्ठरूपी आधार में दृष्टि को रखना पड़ता है। इसके बाद शक्तिस्पन्द-रूप वीर्य का कन्द-भूमि में संचार करना होता है। इतना होने पर पूर्वोक्त स्थान में क्षेपण-क्रिया सम्पन्न होती है, यह सब क्रिया भावना द्वारा करनी चाहिये। उस कार्य को अर्थात् शक्तिस्पन्द को अवलम्ब करके प्राण-स्पन्द-क्रिया अभिव्यक्त करने के बाद तीव्र रूप से उसे उत्तेजित करना पड़ता है। अनन्तर देह के केन्द्रस्थल नाभि में उसकी प्राप्ति होती है। इस के लिये इच्छाशक्ति का प्रयोग आवश्यक होता है। अर्थात् संकोच-क्रम से ऊर्ध्वारोहण-क्रिया संपन्न करके इसे पूर्ण करना पड़ता है। इस के अनन्तर विज्ञान अर्थात् भावना के द्वारा स्थिति को प्रकट करना होता है। इतनी क्रिया के प्रभाव से देहस्थ ग्रन्थियों का भेद हो जाता है। गुल्फ, जानु, कन्द, नाभि इन सब ग्रन्थियों का भेद करना आवश्यक होता है। इस भेद-क्रिया को वेधन कहते हैं। इतना कार्य सम्पन्न होने के बाद ऊर्ध्वस्थित ग्रन्थियों पर आक्रमण करना पड़ता है। सब से पहले मूलस्पन्द को आश्रय करके चलना चाहिये। निरन्तर संकोच व विकास करते हुए देहस्थ स्थल विशेष का निरोध करने पर मूल स्पन्द का आश्रय मिल सकता है। तान्त्रिक लोग जिस को दिव्य करण कहते हैं, यह प्रक्रिया उसी का उपलक्षण है। इस के बाद इड़ा व पिंगला का

त्याग करते हुए इच्छाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति के ऊर्ध्वारोहण के प्रभाव से मध्यप्राणरूपा शक्ति का आश्रय लेना होता है। यह शक्ति मध्यमार्ग में निरन्तर चलती रहती है। अन्त में सुषुम्ना का अवलम्ब करना होता है। इतनी प्रक्रियाओं के प्रभाव से इन्द्रियगोचर विषय ग्राम से निवृत्ति हो जाती है।

इस समय सब इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके अवधान करना पड़ता है। इसके अनन्तर विज्ञान द्वारा आगे का कार्य सम्पन्न करना होता है। इस विज्ञान में माया का स्पर्श नहीं है। यह वस्तुतः प्रकाश-आनन्दात्मक विज्ञान ही है। इस विज्ञान के द्वारा अख्यातिरूप अज्ञान को अभिभूत करना होता है। इस अवस्था में प्राणादि रूप सत्ता में आत्मभावात्मक जो अख्याति है, वह नहीं रहती। इस प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्मादि कारणवर्ग अथवा अधिकारी समष्टि का परिहार किया जाता है। अवश्य यह परिहार क्रिया क्रम से होती है। ब्रह्मादि का अधिष्ठान हृदय, कण्ठ प्रभृति स्थानों में माना जाता है। यही अधिकारी मण्डल का व्यापार है। परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में एक-एक कृत्य के सम्पादन के लिये एक-एक पुरुष नियुक्त रहते हैं। ये सब अधिकारी हैं। इन अधिकारियों को क्रमशः त्याग कर मायादि ग्रन्थियों का भेद करना पड़ता है, इस के बाद विभिन्न आकाशों का परिहार भी आवश्यक है। इस प्रसंग में पञ्चाकाश प्रसिद्ध ही हैं। षट् कारण व पाँचों आकाशों के ऊर्ध्व में उठ कर कुण्डलशक्ति को ग्रहण करना पड़ता है, जिस का नामान्तर समना शक्ति है। यह कुण्डलशक्ति पृथिवी से शून्यातिशून्य अर्थात् शिव-तत्त्व पर्यन्त समस्त विश्व को गर्भ में धारण करती हुई कुण्डल रूप में अवस्थान करती है। यह बहुत उच्च अवस्था है। पर इस से भी ऊपर उठना आवश्यक है। इस ऊर्ध्वगति में एकमात्र विज्ञान ही सहायक है। इतना हो जाने पर उन्मना अवस्था की प्राप्ति होती है। इसमें अपना स्वरूप परमतत्त्व-रूपेण प्रकाशित होने लगता है।

इस प्रक्रिया का सारांश यह है कि पहले प्राण-स्पन्द अर्थात् क्रियाशक्ति को जगा कर नाभि में प्रवेश करना पड़ता है, जिसमें विभिन्न प्रकार की क्रियायें हैं। इस के बाद इड़ा व पिंगला नाड़ियों को छोड़ कर मध्य मार्ग में चलनेवाली सूक्ष्म प्राणशक्ति अर्थात् ब्रह्मनाड़ी द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय करना पड़ता है। इसके प्रभाव से विषयों का उपरम हो जाता है, और इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख हो जाते हैं। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर कारणवर्ग का त्याग करना पड़ता है और मायादि द्वादश ग्रन्थियों का भेद और पञ्चव्योम का अतिक्रम हो जाता है। इतना सिद्ध होने पर षट् कारणों के ऊपर जो समनात्मक कुण्डलिनी शक्ति है उसकी प्राप्ति होती है। इसी शक्ति में समग्र विश्व अन्तर्लीन अवस्था में स्थित है। इसके अनन्तर विज्ञान शक्ति द्वारा ऊर्ध्व में उठ कर उन्मना में प्रवेश हो जाता है। इसी का नाम है परतत्त्व प्रवेश।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है, वह तान्त्रिक प्रक्रिया का विवरण है; परन्तु कौलिक प्रक्रिया इससे विलक्षण है। कौलिक प्रक्रिया शाक्तानन्द मार्ग में संचार का उपलक्षण है। दोनों प्रक्रियाओं में सूक्ष्म ध्यान की आवश्यकता है। कौलिक प्रक्रिया में परा चित्शक्ति का मध्यम प्राण में वहन करना पड़ता है। यह जो मध्यम प्राण है यही सुषुम्णास्थित प्राण-स्वरूप ब्रह्म है। आगमशास्त्रों में इसी को उदान कहा जाता है। जिस समय प्राण तथा इन दोनों वृत्तियों की निवृत्ति हो जाती है, उस समय उन्मना रूप से चिन्तन आवश्यक होता है। इस चिन्तन की प्रक्रिया प्राचीन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इस में सब से पहले देहादि-प्रमातृभाव को शान्त करना पड़ता है। पूर्ण अहन्ता के आवेश से हो यह कार्य सिद्ध हो सकता है। इसके लिये दूसरा उपाय नहीं है। देहादि प्रमातृभाव निवृत्त होने पर तीव्र वीर्य-सम्पन्न मूलमन्त्र की सामान्य स्पन्दरूप में भावना करनी पड़ती है। यह सामान्य स्पन्द पराशक्ति के साथ सामरस्यपूर्ण है और इसी से यह परस्पन्द है। इसी प्रकार से स्पन्दभाव की प्राप्ति होती है। मन्त्रवीर्य की भावना समाप्त करके अपने अभिमान को आनन्दचक्र में स्थापित करना चाहिये। इस आनन्दचक्र का नामान्तर है मूलाधार। यह जो अभिमान है, यह अपना असामान्य चमत्कार रूप वीर्य है। इस के लिये पहले ही परिमित या परिच्छिन्न अभिमान को, जो कि प्राणादि देह का अवलम्बन कर के चलता है, उसे शान्त करना होता है।

अब तक जो कुछ कहा गया यह प्रारम्भिक क्रिया है, इसके बाद सूक्ष्म यौगिक क्रिया का अवलम्बन करना होता है। यह है वेध-क्रिया। यह वस्तुतः मन्त्राधिष्ठाता की प्राणगत स्फुरत्ता अथवा उन्मेष का नामान्तर है। इस वेध-क्रिया में क्रमशः ऊर्ध्वमार्ग में आरोहण करना पड़ता है। यह सूक्ष्म योग का रूप है, इसके द्वारा उन्मेष-प्राप्त स्फुरत्ता उत्तेजित हो जाती है। मध्यमार्ग में आरूढ़ होकर षोडशाधार और द्वादश ग्रन्थियों का भेद करना पड़ता है। इस प्रक्रिया का विवरण कौलशास्त्र में विभिन्न स्थानों में वर्तमान है। इतना भेद होने पर भी वेधक्रिया समाप्त नहीं होती, क्योंकि परमशान्त द्वादशान्त स्थान रह जाता है, उसको भी विद्ध करना आवश्यक है। पहले उस में प्रविष्ट होकर महामाया पर्यन्त के समस्त बन्ध त्याग करने चाहिए और उसी स्थिर-पद में अवस्थित होकर व्यापक नित्योदिता पराशक्ति से सामरस्य प्राप्त परमशिव के साथ तादात्म्य लाभ करना चाहिये। इसके अनन्तर द्वादशान्त से हृदय के बीच में आपूरण करते हुए आकुञ्चन क्रिया करना आवश्यक होता है। इस के लिये भीतर में प्रसारण शक्ति द्वारा मध्यममार्ग का आश्रय लेना आवश्यक होता है। इस के बाद हृदय से उच्छलित अमृत को विभिन्न दिशाओं में फैला देना पड़ता है। यह अमृत उस समय अनन्त नाड़ियों में प्रसरण करने लगता है। इस से अपने देह को आपूर्ण कर लेना चाहिये।

समग्र देह जब अमृत से पूर्ण हो जाता है और अमृत में जब बहिर्मुख वेग तीव्र हो जाता है, तब रोम-कूपों का आश्रय लेकर उस अमृत को विषय की तरफ रेचन-प्रक्रिया द्वारा फैलाना चाहिये। इस में ध्यान रखने की बात यह है कि किसी दिशा में अमृत-सेचन में विच्छेद न हो। इसी का नाम है सूक्ष्म शाक्तानन्द ध्यान। इस ध्यान की स्थिति में यह भावना करनी चाहिये कि समग्र विश्व इस आनन्द से आपूरित हो गया है। इस अवस्था पर्यन्त स्थिति सिद्ध हो जाने पर योगी जरा तथा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। अमरत्व-साधना की यही कौलिक प्रणाली है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में किसी किसी प्रस्थान में तान्त्रिक तथा कौलिक प्रक्रियाओं में भेद माना जाता था। दोनों सम्प्रदायों की प्रक्रिया में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसके एकांश का इस लेख में निदर्शन है। इसी प्रकार और भी किसी-किसी विषय में तान्त्रिक तथा कौलिक प्रक्रिया में सूक्ष्म भेद दिखाई पड़ता है। यह सब विशेषज्ञों का आलोच्य विषय है।

शिल्प की सामाजिक उपयोगिता

विनोद बिहारी मुकर्जी

जब वार्तालाप तथ्य के भार से बोझिल हो जाता है तब साधारणतः मन को उस तरफ अधिक देर तक स्थिर नहीं रखा जा सकता। कहने-लिखने की कला में निपुण होने से गुरुतर तथ्य जिस प्रकार चित्ताकर्षक हो जाता है, उसी प्रकार थोड़ा बहुत नमक-मिर्च लगा कर चमत्कारपूर्ण मनोरंजक-कहानी कही जा सकती है। सहज ही दृष्टि आकर्षित करना अथवा ध्यान आकर्षित करना कलाकार की एक देन है।

शिल्प-कला की उपयोगिता के संबंध में अपने विचारों को इस लेख में यथासंभव संक्षेप में प्रकट करने की चेष्टा की है, क्योंकि इस विषय में प्रकाशित पुस्तकों की कमी नहीं है। ये सब पुस्तकें साधारणतः उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त वर्कशॉप के विभिन्न शिल्पकार्य जो लोग करते हैं और जिन लोगों ने इस कार्य को प्रोत्साहन दिया है, वे भी जानते हैं कि शिल्पकला की उपयोगिता क्या है? ऐसा न होता तो ये सब कार्य किए ही क्यों जाते?

यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि शिल्पकला के प्रभाव से वंचित समाज कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता, फिर भी इस प्रभाव की क्रिया सर्वदा समान रूप से शक्तिशाली नहीं भी हो सकती है।

आधुनिक बुद्धिवादी समाज में शिल्प-कला का मूल्य स्वीकृत होने पर भी व्यापकरूप से समाज पर शिल्प-कला का प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं है। संभवतः इसीलिए शिल्पकला की उपयोगिता की चर्चा को जितना अवसर मिलता है उतना शिल्पसृष्टि को नहीं।

शिल्प-कला के संबंध में गांधीजी और रवीन्द्रनाथ ने इतना आग्रह क्यों दिखाया था, इसका कारण जानने के लिए शिल्पी की देन के संबंध में हमारी धारणा स्पष्ट होनी चाहिए। निरीक्षण परीक्षण द्वारा एक मिट्टी के लौंदे से वैज्ञानिक लोग विभिन्न प्रकार के तथ्यों का आविष्कार करते हैं। लेकिन तथ्य आविष्कार के पश्चात् भी मिट्टी का मूल्य नहीं बढ़ता, दूसरी ओर एक कारीगर मिट्टी के लौंदे को चाक पर चढ़ाकर घड़ा गढ़ता है अथवा हाथ से खिलौना बनाता है तब इस वस्तु-पिण्ड में एक ऐसा गुण प्रकाशित होता है जिसके प्रभाव से उस मिट्टी को फेंक देने की इच्छा नहीं होती। जलाकर राख न बना देने तक कारीगर द्वारा निर्मित प्रत्येक अंश अपने अस्तित्व को व्यक्त करता रहता है। वैज्ञानिकों ने प्लास्टिक नामक एक वस्तु का आविष्कार किया है। प्रयोगशाला से यह नाना प्रकार के आकारों में निकल कर पृथ्वी पर फैल गयी, यह कारीगर की देन है। लकड़ी, मिट्टी, पत्थर इत्यादि उपादानों से निर्मित आकार मात्र

हमारे मन मे जो चेतना जगाते हैं वही मनुष्य के विकास मे सहायक एव शिल्प-कला की उपयोगिता है।

यह ठीक है कि जिस क्षेत्र मे हमारी अनुभूति पूर्णरूप से कठोर हो गई है उस क्षेत्र में शिल्प रस का प्रभाव नहीं भी पहुँच सकता, फिर भी उस क्षेत्र में शिल्प के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मेज़, कुर्सी, किताब, कॉपी, टेलीफोन, रेडियो सबके साथ कारीगर की देन युक्त है। व्यावहारिक वस्तु तैयार कर देने से ही यदि कारीगर का काम समाप्त हो जाता तो कारीगरों और शिल्पियों को लेकर इतनी चर्चा नहीं होती। दार्शनिक इस विषय को लेकर इतनी माथापच्ची नहीं करते। इसलिए शिल्प कला के आदर्श, उद्देश्य एव इसकी उपयोगिता के सबध मे दो चार बाते बतलाना आवश्यक है।

व्यक्ति कर्म और चिन्तन के माध्यम से कुछ ऐसे तथ्यों का आविष्कार करता है, जिनको ग्रहण करना सबके लिए सभव नहीं है। शिल्पी और कारीगर के माध्यम से मनुष्य की अमूर्त-उपलब्धि आनन्दमय रूप में जनता के बीच प्रकाशित होती है। दूसरी तरफ मनुष्य के भोग की स्थूल आकाक्षाओं को सौन्दर्यमण्डित कर सबके उपभोग के लिए शिल्पी ही उपस्थित कर सकता है। अमूर्त उपलब्धि और वास्तविक आकाक्षाएँ सौन्दर्य रूप मे आकर जहाँ मिलती हैं वहीं पर हमें महान् शिल्प के दर्शन होते हैं।

शिल्प का प्रभाव नहीं रहने से हमारी सहज्ञान आवेग-आकाक्षा हमारे जीवन को विकृत कर देती एव समाज मे ज्ञानालोक अनायास ही प्रवेश नहीं कर पाता। इसीलिए जो समाज शिल्पकला की उपयोगिता के सबध में यथेष्ट सचेत नहीं रहता वहाँ ज्ञान पाण्डित्य की सीमा में अवरुद्ध रहता है और सहज्ञान आकाक्षा की प्रचण्ड शक्ति रहने पर भी उपभोग का पथ वहाँ अवरुद्ध रहता है।

कारीगरी का प्रभाव जितनी आसानी से हम अनुभव करते है, महान् शिल्प का प्रभाव उतनी आसानी से हमारे हृदय में नहीं बैठता, क्योंकि महान् शिल्प-चेतना सासारिक लाभ हानि के साथ युक्त नहीं है। इस क्षेत्र में जीवन की महत्ता को व्यापकतर उपलब्धि का सबध है। इसलिए सहज शिल्प का आस्वादन करने के लिए तथ्य भाराक्रान्त बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति की आवश्यकता होती है साथ ही शिल्प और कारीगरी के सबध मे एक धारणा की आवश्यकता। जिस प्रकार वर्ण-परिचय न होने से पुस्तक नहीं पढ़ी जा सकती, उसी प्रकार कारीगरी की धारणा न होने से शिल्प-रूप का उपभोग करना सभव नहीं होता। लेकिन शिक्षा की आलोचना इस क्षेत्र में अप्रयोजनीय न होने पर भी हमारे लिए अनधिकार चर्चा है।

मेरा उद्देश्य है शिल्प की सामाजिक उपयोगिता की चर्चा। कारीगरी की आवश्यकता

होने के कारण ही हम लोग कारीगर की प्रयोजनीयता स्वीकार करते हैं, लेकिन अधिकतर कारीगर की बनाई वस्तु के अच्छे, बुरे, सौन्दर्य की ओर हम लोग ध्यान नहीं देते। इसीलिए प्रायः मशीन और हाथ से बने सामान का पार्थक्य-बोध हममें नहीं रहता। सीधी बात यह है कि क्रियात्मक मूल्य को एकमात्र नपातुला मान लेने के कारण ही कारीगर की रचनात्मक शक्ति का मूल्यांकन नहीं किया जाता। उन्हें मज़दूरों की श्रेणी में खड़ा कर देते हैं। यह सत्य है कि सभी शिल्प वस्तुएं परिश्रम से तैयार की जाती हैं किन्तु परिश्रम का उद्देश्य क्या है? इसका स्पष्ट ज्ञान रहने से कुटीर-शिल्प और यंत्र-शिल्प के बीच का पार्थक्य सहज ही समझ में आ जायगा। इसी प्रकार व्यावहारिक वस्तु के द्वारा कारीगरी की देन की उपलब्धि का अनुभव करना सीखने पर क्रमशः तथाकथित अत्युत्तमकृति का मूल्य हम स्वीकार कर सकेंगे। कारीगरी की देन के माध्यम से ही शिल्प-कला की भाषा सीखनी पड़ती है।

इसीलिए ललितकला और दस्तकारी के संयोग से ही दोनों का विकास होता है। एक सामाजिक रूप है दूसरा उसी का अमूर्त प्रकाश है, किसी एक को भी छोड़ा नहीं जा सकता और सम्पूर्ण विच्छिन्न होने से किसी का भी विकास और परिणति सहज साध्य नहीं है।

शिल्प-कला के सबंध में जो संक्षिप्त परिचय दिया गया, उसका विवेचन करके कहा जा सकता है कि वह गूढ़ तथ्य को सरल और सक्रिय बना कर समाज में उपस्थित करती, वस्तु-पिण्ड को गुणयुक्त कर प्राणमय रूप की सृष्टि करती और स्थूल और सूक्ष्म अनुभूति को सुन्दर-आनन्द रूप में समाज के समीप ला देती है। लेकिन यहां ही समस्या का अन्त नहीं होता। अब प्रश्न उठ सकता है कि क्या शिल्प की देन ज्ञान-विज्ञान की भांति अत्यन्त आवश्यक है? क्योंकि बहुत से लोग शिल्प बोध के बिना भी अच्छी तरह दिन बिताते हैं। एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण दिया जा सकता है। संस्कृति के नाम से हम सभी परिचित हैं। यदि हम शिल्प-कला के अस्तित्व को स्वीकार न करते तो क्या सभ्य व्यक्ति और सभ्य समाज इत्यादि का अस्तित्व संभव होता? बाहर से तथ्य आहरण करके संस्कृति-बोध उत्पन्न नहीं किया जाता, इस संबंध में तर्क की गुंजायश नहीं है। मनुष्य के विभिन्न-विचित्र संघातपूर्ण अस्तित्व के पूर्ण विकास का नाम ही संस्कृति है। संस्कृति एक प्रकार की उपलब्धि है। उसे निपुणता के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है। इस निपुणता के पथ को शिल्पी की प्रतिभा मुक्त कर देती है। इसलिए इस विषय में संस्कृति-पथ से अपने को शिक्षित करने का एकमात्र उपाय शिल्प रूप है। हमारी सुप्तानुभूतियां शिल्परूप के संस्पर्श से धीरे-धीरे जग उठने को बाध्य होती हैं एवं परिमार्जित अनुभूति के बिना अमूर्त रूप-सौन्दर्य का आनन्द लेना संभव नहीं है। अमूर्त सौन्दर्य का अनुभव करना सीखे बिना मानवीय चेतना का पूर्ण विकास होना संभव नहीं है।

विवेचन बढ़ता ही जा रहा है क्योंकि मुझे ऐसी वस्तु को तर्कपूर्ण ढग से समझाना पड रहा है, जो समझने की वस्तु नहीं है, अनुभव की वस्तु है। यह अनुभव सवदा वस्तु-आश्रित रहता है, इसलिए शिल्प-वस्तु के साथ सबध रखे बिना शिल्पी के सबध में टीका टिप्पणी करना गूढ एव नीरस होगा। यह बात पहले ही कही जा चुकी है। जो व्यक्ति स्वय शिल्प सृष्टि करता है, हो सकता है वह स्वय यह नहीं बतला सकता कि उसके कार्य की उपयोगिता क्या है।

भींगी मिट्टी की गध अच्छी लगती है। मौसमतालिका पढ़े बिना ही हम समझ लेते हैं कि दक्षिणी पवन आकर शरीर का स्पर्श कर रहा है। इस प्रकार की निपुणता से क्या लाभ? लाभ कुछ भी नहीं है। शिल्प का अस्तित्व लाभ-हानि से परे है। लेकिन लाभ हानि के साथ इसका कोई सबध नहीं है, यह कह कर यदि शिल्प कला की अवहेलना की जाय तो लाभ-हानि के बाजार में भी काफी क्षति होगी। इसीलिए शिल्पकला को सक्रिय रूप में बचाए रखना समाज-नेताओं और अर्थशास्त्रियों का उत्तरदायित्व है।

लाभ हानि के सासारिक जीवन में शिल्प, साहित्य, संगीत इत्यादि सौन्दर्यानन्द पहुँचाते हैं। हाँ, इस आनन्द का उपभोग करने के लिए चौसठ कलाओं का अभ्यास अक्षर परिचय के दिन से ही करना पड़ता है।

जिस प्रकार रोशनी से रश्मियां निकल कर चारों ओर फैल जाती हैं, उसी प्रकार एक शिल्प-रूप हमारे हृदय के नाना स्तरों पर प्रकाश डालता है, एव विभिन्न प्रश्न उठते हैं। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री आदि पंडितों की विचारधारा किसी न किसी प्रकार शिल्प-जगत में आने के लिए बाध्य होती है। सौन्दर्य की दृष्टि से शिल्प की सामाजिक उपयोगिता के सबध में चर्चा हुई। यहाँ शिल्पकला की बहु विधि चर्चा के माध्यम से उसे सौन्दर्य की दृष्टि से देखने की चर्चा विस्तार से नहीं की जा सकती। प्राचीन मतामतों की टीका-टिप्पणी के व्याख्याताओं की कमी नहीं है। इसीलिए सौन्दर्य की सामाजिक उपयोगिता के सबध में सक्षेप में कहा है।

सौन्दर्य हमारे लिए उत्कृष्ट चिन्तन का उपादान उपस्थित करता है लेकिन वह गौण है। इन्द्रियगत प्रेरणा की सहायता से अनुभूति को जागरित करना ही शिल्प की सर्वप्रधान देन है, इसीलिए कहा जाता है कि शिल्प ध्यान की वस्तु है। शिल्प के सबध में प्रत्यक्ष निपुणता द्वारा ही शिल्प की उपयोगिता समझी जायगी। आलोचना-समीक्षा के द्वारा इस विषय की ओर उत्सुकता जगायी जा सकती है, लेकिन यदि अपने नेत्रों द्वारा परिचय प्राप्त करने का अवसर न मिले तो वह उत्सुकता कभी भी स्थायी नहीं हो सकती।

कलाकार प्रायः हवा खाते फिरते हैं, इस प्रकार की टीका-टिप्पणी इस जीवन में कई बार सुन चुका हूं। शिल्पकला की उपयोगिता स्वीकार करने पर कलाकारों को हवा खाने का अवसर देना ही होगा। बिना इस अवसर के प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष परिचय नहीं रहेगा। प्रकृति से विच्छिन्न रहकर मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं होता। यह बात देश-विदेश के गुणो-मानी व्यक्तियों ने कही है एवं आज भी कहते हैं। इसलिए मैं इस विषय में युक्ति-तर्क-वितर्क, करने की आवश्यकता नहीं समझता।

नाना स्थानों में जो मूर्तियां, भित्तिचित्र अंकित हैं, वे सब कलाकारों की दक्षता और मजदूर की भांति कठिन परिश्रम करने की क्षमता की सहायता से ही संभव हुए हैं। शिल्पी मात्र ही कर्मी है। लेकिन हां, इस कर्म की शक्ति अवकाश के द्वारा अर्जित करनी पड़ती है। शिल्प-कला की उपयोगिता के साथ ही साथ हमें स्वीकार करनी पड़ेगी अवसर की आवश्यकता।

यदि आधुनिक समाज अवसर का मूल्य स्वीकार कर ले तो इस संबंध में शिल्प-कला के विकास का पथ मुक्त हो जाएगा। यह समझा जा सकता है। पथ उन्मुक्त रहने से शिल्प की सृष्टि होगी एवं शिल्प सृष्टि के साथ प्रत्यक्ष परिचय होने की घड़ी से ही हम शिल्प की उपयोगिता का अनुभव करेंगे।

जायसी का विम्ब प्रतिविम्बभाव

वासुदेवशरण अग्रवाल

जायसी का काव्य कितना बहुमुखी और गम्भीर है इसे कहते हुए शब्द हार जाते हैं। जायसी के काव्य के साथ मेरा कई वर्षों तक घनिष्ट सम्बन्ध रहा। जब मैं पदमावत की सजीवनी टीका लिख रहा था तब मेरे मन में एक ओर जायसी के मूर्त चित्रात्मक वर्णनों की छाप पड़ी जिनमें ये वस्तुओं का रूप खड़ा कर देते हैं और दूसरी ओर मैं उनकी भावात्मक कल्पनाओं से भी बहुत प्रभावित हुआ जिनके द्वारा वे मूर्त के आधार पर अमूर्त की ओर संकेत करते हैं। काव्य स्थलों की यह द्विविध शक्ति इस कवि की तरंगित प्रतिभा की परिचायक है।

दर्शन और विज्ञान का यह सबसे बड़ा आविष्कार है कि इस दृश्य जगत् के पीछे एक अदृश्य प्राणात्मक जगत् की सत्ता है उसकी अधिष्ठात्री देवी को देवतामयी अदिति कहा जाता है। जो भूतों के धरातल पर उन्हीं के भीतर से प्रकट होती हैं। वेदों में उसके अनेक नाम हैं, जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में हिरण्यगर्भ और महिमा प्रजापति के दो रूप बताए गए हैं एक निरुक्त जो शब्दों से अतीत है पर जिसकी दुर्धर्ष सत्ता भूतों में बिन्दु बिन्दु पर प्रकट हो रही है। प्रजापति के ये दो रूप सहज ही बुद्धिगम्य हो जाते हैं। इनकी सिद्धि के लिये किसी हेतु या तर्क की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष जगत् के पीछे परोक्ष, दृष्ट के पीछे अदृष्ट, भूतों के पीछे प्राण ध्रुव रूप से विद्यमान है। उस अदृश्य तत्व को बिम्ब और इस मूर्त भौतिक जगत् को प्रतिबिम्ब कहा जाता है। बिम्ब की परछाईं या छाया प्रतिबिम्ब है। बिम्ब चेतन और प्रतिबिम्ब को जड़ कहा जाय तो उचित होगा। दार्शनिक भाषा में इसे ही आभासवाद कहा जाता है। देवता का स्वरूप बिम्ब और उसकी मूर्ति की कल्पना प्रतिबिम्ब के अन्तर्गत आती है। मूर्ति या अर्चा की पूजा का यही आधार है। यह सारा विश्व ही एक प्रकार से अमूर्त प्रजापति का मूर्त रूप या प्रतिबिम्ब है, जैसा मूल में प्रजापति है वैसी ही उसकी परछाईं यह विश्व है। प्रजापति के पास जो विभूति थी उस सबकी आहुति उसने इस विश्वरचना के सर्वहुत यज्ञ में डाल दी। वैदिक परिभाषा में पाञ्चभौतिक जगत् को वाक् भी कहा जाता है इसीलिए वहा यह सिद्धान्त स्वीकृत किया गया कि जितना और जो कुछ ब्रह्मतत्व है वह सब वाक् स्वरूप इस विश्व में प्रतिबिम्बित है। उपनिषदों में छाया और आतप अर्थात् धूप और छाह के रूप में इस समस्त विश्व और उसके कारण की व्याख्या की गई है। ब्रह्मज्ञानी प्रकाश और परछाईं के द्वारा ही चेतन ब्रह्म और जड़ जगत् की व्याख्या किया करते थे। 'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति'—काठकोपनिषत्—छायात्मक यह मूर्त विश्वमृत्यु का रूप है एव आतप

रूप ब्रह्मतत्व या प्राणतत्व अमृत का रूप। भूतों को असुर और प्राणों को देव कहा जाता है। असुर अन्धकार के और देव ज्योति के प्रतीक हैं। असुरों के देवता वरुण और देवों के देवता मित्र हैं। यह विश्व और इसका प्राणात्मक कारण मित्रावरुण की सृष्टि है। मित्रा या वरुण का रेत असंयुक्त शक्ति सर्वसौन्दर्य को निधि और सबको वश में करने वाली उर्वशो में संवलित होती है। ऋग्वेद की उर्वशी भारतभूमि पर विकसित होनेवाले काव्य के असीम प्रवाह में पद्मावती बनती है। यह सर्वसुन्दरी पद्मावती रूप में अवतार लेती है। कवि की कल्पना में प्रत्येक पद्मावती मूर्तिमती उर्वशी है और प्रत्येक रत्नसेन पुरुरवा का रूप है जो 'हये जाये' कहता हुआ अपनी उर्वशी के पीछे दौड़ रहा है। विश्व में सब स्त्री-पुरुष के जोड़े काव्य की नायक-नायिका हैं। जिनका मूल रूप 'त्वंस्त्री त्वं पुमान्' के सूत्र द्वारा कहा गया है। इस द्वन्द्व से ही वशिष्ठ का जन्म होता है जो प्राण तत्व का पर्याय है। छाया और आतप अविम्ब प्रतिविम्ब के परस्पर अनिवार्य आकर्षण से जो विस्फोट होता है उसी प्राणात्मक पुरुष का प्रतीक वशिष्ठ है। पुराणों में इसे स्पष्ट बताया गया है। भूतों के धरातल पर अवतार ही 'पुरोहित' वशिष्ठ का रूप है। इस प्रत्यक्ष जगत् को 'यथा' कहा जाय तो ब्रह्म या प्रजापति 'तथा' है। जैसा 'वह' है ऐसा ही 'यह' है। इसी सन्तान नियम को याथातथ्य कहते हैं और इसी नियम के अनुसार विश्व के सब पदार्थों की रचना हुई। इसी के लिये उपनिषद् में कहा है—

याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

इसी के लिये ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त में कहा है—

धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

प्रतिविम्ब या मूर्त पदार्थों के वर्णन का यह अर्थ नहीं कि वस्तुओं की केवल सूची गिना दी जाय जैसे वृक्ष, पशुपक्षी, वस्त्र अश्व आदि की सूचियाँ मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में और पदमावत में भी पाई जाती हैं किन्तु प्रतिविम्ब के इस स्थूल धरातल से ऊपर उठकर जब कवि दिव्य प्राणात्मक सूक्ष्म सत्ता को झलक देखता है और चेतना के जगत् में पाठक का प्रवेश कराता है तभी शब्द और अर्थ को सहस्थिति के द्वारा वह अपने काव्य में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव की सृष्टि करता है। कहना न होगा कि सूफी रहस्यवादी कवि होने के कारण जायसी इस शैली के धनी हैं। चित्रावली के रचयिता उस्मान कवि भी इस प्रकार का प्रयत्न करते देखे जाते हैं किन्तु उनका काव्य-पक्षी अपने पंख पृथिवी पर फड़फड़ाता हुआ विचरता है जब कि जायसी का काव्य-सुपर्ण अपने पंखों में खगराज महागरुड् की शक्ति लेकर तीनों लोकों को प्रत्यक्ष करता है।

जब मैं पद्मावत का सजीवनी भाष्य लिख रहा था उसी समय जायसी की इस विशेषता का मान मुझे हुआ था और मैंने अपनी भूमिका में इस सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये —

जायसी अत्यन्त संवेदनशील कवि थे। संस्कृत के महाकवि बाण की भांति वे शब्दों में चित्र लिखने के धनी हैं। चित्र भी ऐसे जिनके पीछे अर्थों का अक्षय स्रोत बहता है। अलकार, रस, भाव आदि की काव्य समृद्धि का तो यहा कोई अंत ही नहीं मिलता। किन्तु कवि की सहज प्रतिभा बाहरी वर्णनों में ही परिसमाप्त नहीं हो जाती। वह अलंकार विधान के माध्यम से रस तक पहुंचने में सफल होती है। जायसी की चित्रग्राहिणी शक्ति का उल्लेख करते हुए अनायास अग्रेज कवि ब्राउनिंग का स्मरण हो आता है। वह भी कल्पना जनित चित्र की पूरी रेखाओं को मानस में प्रत्यक्ष करते हुए उसका उतना ही अंश परिगृहीत करता था जो उसकी दृष्टि में चित्र के लिए न्यूनतम आवश्यक होता। फलत बीच की कई कड़ियाँ छूट जाती हैं जिन्हें पाठक को अपनी ओर से स्फुट करना पड़ता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरणों से जायसी की कविता भरी हुई है। किन्तु विशेष रूप से इन भावों का उन्मेष पद्मावती के जन्म और सौंदर्य वर्णन में देखा जाता है। उसका शरीर नितान्त मूर्त है, किन्तु उसके अंग प्रत्यंग किसी रहस्यात्मक सौंदर्य की ओर सकेत करते हैं अथवा उस दिव्य ज्योति के प्रतीक हैं जो इस विश्व के मूल में निगूढ़ है। उसकी सत्ता देश और काल से ऊपर है, वह कभी क्षीण नहीं होती।

पद्मावती का मातृगर्भ में आना सामान्य मानुषी घटना न होकर पृथिवी के रूप का स्वर्ग की दिव्य ज्योति से समिलन है—

चंपावति जो रूप उतिमाहाँ। पदुमावति कि जोति मन छाहाँ।१।
भै चाहे असि कथा सलोनी। मैंटि न जाइ लिखी जस होनी।२।
सिंघल दीप भएउ तब नाऊं। जौं अस दिया दीन्ह तेहि ठाऊं।३।
प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई।४।
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर बहु पाई।५।
जस औधान पूर होई तासू। दिन दिन हिए होइ परगासू।६।
जस अंचल झीने महं दिया। तस उजियार दिखावे हिया।७।
सोनैं मंदिर संवारैं औ चन्दन सब लीप।
दिया जो मनि सिव लोक महं उपना सिंघल दीप ॥३।१॥

अर्थात् (१) चम्पावती उत्तम स्त्रियों में रूपिणी (चांदी) है। पद्मावती रूप ज्योति

(सुवर्ण) को छांह उसके मन में पड़ो है। या ज्योतियुक्त मणि की परछाई उसके सौन्दर्य में पड़ा है।

(२) दोनों का मेल इस प्रकार है जैसे चांदी मिले हुए सोने को शुद्ध करने के लिए सोने की सलोनी की जाती है। सोने की शुद्धि के लिए सलोनी आवश्यक है। यही बिधाता का विधान है, सुनार की सलोनी प्रतिभा में, कवि के लावण्य उत्पादन की छाया दिखाई देती है। इसो लिए पद्मावती रूप ज्योति को चम्पावती रूप बांदो के साथ मिलना पड़ा। जैसा होना लिखा है, वैसा मेटा नहीं जा सकता।

(३) सिंहलदोप का नाम पद्मावती रूप दीपक के कारण हुआ है।

(४) पिता के मुकुट को मणि में स्वर्ग की ज्योति प्रतिविम्बित हुई है। वहो स्वर्गीय ज्योति माता के गर्भ में पद्मावती के रूप में प्रविष्ट हुई है। सिंहल में पद्मावती का जन्म किसी रहस्यात्मक शिवलोक की दीपक मणि है।

इन पक्तियों में शुष्क वर्णन नहीं, किन्तु विम्ब के आभास की युक्ति से कवि ने आदि से अन्ततक अपूर्व रस भर दिया है जो रस लोभी सहृदय के मन को सींच देता है, पद्मावती का मांग के तथ्यात्मक वर्णन में भो कवि को कल्पना है कि सब देवता उस पर बलि हुए हैं और सूर्य अपनी अरुणाई से उसकी पूजा करने के लिए उदित होता है—

बलि देवता भए देखि सेंदुरु। पूजै मांग भोर उठि सूरु।६।

भोर सांझ रबि होइ जो राता। ओहीं सो सेंदुर रातागाता।७।

प्रातः सायं सूर्य की लालिमा ही उसके अगों की लालो है। इस प्रकार कवि की दृष्टि बारंम्बार मूर्त से अमूर्त और प्रत्यक्ष से परोक्ष रूप, सौंदर्य एवं ज्योति के दर्शन करती है। भौतिक धरातल पर पद्मावती स्वर्ग के दिव्यभावों की परछाईं या प्रतिविम्ब है। आकाश में धूप है और उसकी छाया पृथिवी की भौतिक वस्तुओं पर पड़ रही है। धूप-छांह का यह खेल काव्य में विम्ब-प्रतिविम्ब विधान के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जायसी के काव्य में इस प्रकार के विधान की पराकाष्ठा पाई जाती है।

संस्कृति और साहित्य

प्रकाशचन्द्र गुप्त

मनुष्य ने सहस्रों वर्ष संघर्ष करके संस्कृति का विकास किया है। उसने प्रकृति पर विजय पाकर सभ्यता का विकास किया और मूल्यों, आदर्शों और सिद्धान्तों का निर्माण करके संस्कृति को समृद्ध किया। सभ्यता बाह्य जगत के व्यापारों से संबंधित है; संस्कृति मनुष्य के आत्मिक विकास से।

मनुष्य ने खेत लगाए, गेहूँ और कपास की पैदावार की। उसने रथ का पहिया बनाया, सीने की सुई ईजाद की। उसने आखेट जीवन की प्रक्रियाएँ त्याग कर कृषि जीवन अपनाया और सभ्यता का वरण किया। उसने बोलना सीखा, फिर लिपि का आविष्कार किया। उसने गुफाओं की दीवारों पर चित्र बनाए और वेद की ऋचाओं की रचना की। सभ्यता और संस्कृति का विकास इस प्रकार साथ साथ चलता है। एच जी वेल्स का कहना है कि मनुष्य जब हाथ से काम करने लगा, तब उसके मस्तिष्क का विकास हुआ। प्रकृति पर उत्तरोत्तर नई नई विजये प्राप्त कर मनुष्य मानसिक रूप से भी अधिक संपन्न बनता है। उसके दिमाग की उड़ानें प्रकृति पर नए अधिकार की साधन बनती हैं।

मनुष्य मुद्रण का आविष्कार करता है। पुस्तकें छप कर ज्ञान का प्रसार करती हैं। गणित पर अधिकार प्राप्त कर मनुष्य राकेट बनाता है और चन्द्रलोक की यात्रा के स्वप्न साकार करता है। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति परस्पर एक दूसरे की पूरक बनती हैं।

धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, सभी मानव मूल्यों के निर्माण में सहायक होते हैं। मनुष्य अपने विवेक से पशु-जीवन के ऊपर उठता है। वह अनुभव करता है कि हिंसा से अहिंसा श्रेष्ठ है, और घृणा अथवा द्वेष से प्रेम। धर्म ने मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाया, किन्तु कालान्तर में धर्म संकीर्ण सम्प्रदाय बन कर रह जाता है। धर्म ने मनुष्य को शक्ति और प्रेम का पाठ सिखाया, किन्तु धर्म के नाम पर इतिहास के अगणित पृष्ठ रक्त-रंजित भी हुए।

साहित्य और कला मनुष्य की अनुभूतियों को छूते हैं, उसे अधिक संवेदनशील बनाते हैं, उसकी भावनाओं को उद्वेलित करते हैं, उसके चिन्तन को प्रभावित करते हैं। भावनाओं के माध्यम से वे उसके विचारों को मथते हैं।

संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, साहित्य और स्थापत्य कला—इन्हें ललित कलाओं की संज्ञा दी गई है। सुन्दर, मधुर गीत सुन कर, किसी चित्र अथवा मूर्ति को देख कर, ताजमहल ऐसी भव्य इमारत अथवा पार्थेनन के भग्नावशेष देख कर, या साहित्य का पारायण करके हम

मन में गहरे आन्दोलन का अनुभव करते हैं। हमारी भावनाएँ हिल जाती हैं। एक भूकम्प मन में उठता है। इस आन्दोलित स्थिति से हम किसी नवीन जीवन-बोध की ओर भी अग्रसर होते हैं।

साहित्य और कला हमारी सौंदर्य बुद्धि को विकसित करते हैं। हम सूर्योदय और सूर्यास्त के सुनहले रंगों, चाँदनी के परी-सदृश सौंदर्य, कमल और गुलाब के रूप और गंध के प्रति आकर्षित होते हैं। हम हिमराज की शुभ्रता और ऊँचाई, सागर की गहनता और उसके विस्तार से प्रभावित होते हैं। हम सावन और भादों के बादलों की मद-भरी चाप सुन कर उल्लसित होते हैं। हम गंगा की गंभीर गरज सुन कर उद्वेलित होते हैं। संगीत, चित्रकला और साहित्य में प्रकृति के अपरूप सौंदर्य का अंकन अनुभव करके हम अपने सुन्दरता के बोध को परिष्कृत करते हैं।

ताजमहल को कवि-कल्पना ने "काल के कपोल पर एक अश्रु-बिन्दु" के रूप में देखा था। इसी कल्पना ने उसे "संगमर्मर में कविता" और "संगमर्मर में एक स्वप्न" के रूप में भी देखा था। नदी पार से दिन के उज्ज्वल आलोक में ताजमहल एक सामान्य समाधि प्रतीत होता है, किन्तु गहरे संपर्क से उसका आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। सरो के तरतीब से लगे पेड़, सुन्दर हरे उपवन का परिधान, निर्मल सरोवर में तैरती हुई रंग-बिरंगी मछलियाँ, स्वच्छ जल में ताज की छाया मानो किसी अनुपम चित्र की सज्जा के लिए मानव-शिल्पी ने यह साज सजा है। पूर्णिमा के चन्द्र के आलोक में ताज रजत-चित्र सा झलमलाता है, उसकी रेखाएँ नितान्त कोमल, मधुर और सुकुमार लगती हैं; किन्तु साँझ के धुँधले में, जब अँधेरा सिमट कर घना होने लगता है, ताज मानो किसी नव-वधू के समान संकोच में डूबता-सा प्रतीत होता है।

श्रेष्ठ कला-कृतियाँ इस प्रकार मन के अन्तर्तम को बेधती हैं। साहित्य भी इसी तरह पाठक की श्रेष्ठ वृत्तियों को समृद्ध बनाता है और परिष्कृत करता है। वेद की ऋचाएँ ऊषस् के सौंदर्य का अंकन करती हैं; उन्हें पढ़ कर हम इन्द्र के मेघों की ऐरावत-सदृश मद-मत्त पग-चाप सुनते हैं, हम तड़ित के आघात से इन मेघों का क्रन्दन सुनते हैं।

वर्षा के नए मेघ आकाश पर छा रहे हैं। धुँए के समान वे घाटियों से उठते हैं और घनीभूत होकर पृथ्वी पर बरस पड़ते हैं। यह दृश्य नन्दलाल बोस चित्रों में अंकित करते हैं। इसी का वर्णन गुरुदेव "गीतांजलि" के गीतों में करते हैं: "बादलों के ऊपर बादल घिरते हैं और अँधेरा गहरा होता है। प्रेयसि, तुम मुझे द्वार पार अँधेरे में अकेले खड़ा क्यों छोड़ देती हो ?"

इसी अनुभूति की प्रतिध्वनि हम हिन्दी कविता में भी सुनते हैं

"घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !
जलधि मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे हो दृग व्योम में,
सजल श्यामल मथर मूक सा
तरल अश्रुविनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय !
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय !"

साहित्य में हमें जीवन के व्यापक और सश्लिष्ट रूप का मार्मिक अकन मिलता है। यह गुण हमें विशेष रूप से 'ऐपिक' काव्य और आधुनिक उपन्यास-साहित्य में मिलता है। रामायण अथवा महाभारत ऐसी रचनाओं में मानो कवि ने स्रष्टा को चुनौती देते हुए एक पृथक ससार की ही सृष्टि की है। शेक्सपियर ने कहा है कि "नाटक जीवन का दर्पण" है। साहित्य में हम जीवन का विराट और सूक्ष्म रूप प्रतिबिंबित पाते हैं। उपन्यास को राल्फ फौक्स आधुनिक युग का महाकाव्य कहते हैं। वास्तव में वे इसे पूँजीवादी युग का महाकाव्य मानते हैं। डिकिन्स ने एक सपूर्ण ससार की सृष्टि की है। कितना चित्र-विचित्रित यह स सार है। जीवन के बहुरूपी पक्षों का सर्वांगीण अकन हमें डिकिन्स के साहित्य में मिलता है। कैसे महान पात्रों को उन्होंने जीवन प्रदान किया है! टॉलस्टॉय ने कहा था "डिकिन्स के पात्र मेरे निजी मित्र हैं।" अंग्रेज़ जनता की कल्पना में उनका स्थान फादर क्रिसमस के समकक्ष है। घर-घर में वे देवी देवताओं के समान पूजे जाते हैं।

ऐसा ही कुछ हम प्रेमचन्द के पात्रों के सबध में भी कह सकते हैं। होरी के समान पात्र हमारे जीवन के सहयात्री बन गए हैं। हमारे जीवन के यथार्थ से कम वास्तविक प्रेमचन्द का साहित्य हमें नहीं लगता।

श्रेष्ठ साहित्य हमारी मानवीय भावनाओं को समुन्नत बनाता है और हमारे जीवन पथ को आलोकित करता है। सन्त-कवियों ने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य-रचना की थी। उनका साहित्य मानो इस जीवन रूपी सागर पार करने का एक यान है। तुलसी का "राम चरित मानस" जीवन के आदर्शों की ओर हमें प्रेरित करता है। जीवन के सघर्षों की प्रतिछवि हमें इस महान कला-कृति में मिलती है। हमें दुःख और दारिद्र्य के रावण का

विनाश करके एक आदर्श समाज की स्थापना करनी है। हमें इस महाकाव्य में जीवन के अनेक प्रतिनिधि-पात्र मिलते हैं और जीवन-संघर्षों में विजयी होने की पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। कुछ स्थलों पर ऐसा भी अनुभव किया जा सकता है कि कवि ने आज के भारतीय समाज की ही चर्चा की है। इसका कारण यही हो सकता है कि आज भी भारतीय जीवन में अनेक मध्ययुगीन अवशेष मिलते हैं। तुलसीदास कलिकाल का वर्णन इस प्रकार कहते हैं :

"जो कुछ झूट मसखरी जाना,
कलिजुग सोई गुनवंत बखाना।
निराचार जो स्रुतिपथ-त्यागी ;
कलिजुग सोइ ज्ञानी, बैरागी।
जा के नख अरु जटा बिसाला,
सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोई, जा कहँ जो भावा ;
पंडित सोई, जोइ गाल बजावा।"

इसी प्रकार कबीर ने भी तत्कालीन कुरीतियों पर कठोर आघात किए हैं :

"फूटी आँख बिबेक की, लखै न संत असंत ;
जाके सँग दस-बीस हैं, ताको नाम महन्त।"

मनुष्य के विचार उसकी भावनाओं को प्रभावित करते हैं और उनका परिचालन करते हैं। कभी-कभी भावनाएँ भी विचारों का परिचालन करती हैं। भावनाओं और विचारों में कभी-कभी बड़ी खाई रहती है। ऐसे व्यक्तित्व को हम खंडित व्यक्तित्व कहते हैं। ऐसा अन्तर्संघर्ष कमोबेश मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति के मन में चला करता है। अन्ततः भावनाएँ विचार-दर्शन को नई दिशा देती हैं, अथवा कलाकार की जीवन-दृष्टि भावनाओं को अपने अनुरूप ढालती है।

कलाकार अपनी रचना में अपनी सन्निहित जीवन-दृष्टि प्रकट करता है और उसका पाठक उसके विचारों से प्रभावित होता है। इस प्रकार मानव संस्कृति साहित्यकार की रचनाओं से समृद्ध होती है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक, स्टीविनसेन, वाल्ट ह्विटमैन की कला के प्रभाव का अपने एक निबंध में मार्मिक वर्णन करते हैं। शॉ के विचारों का उनके साहित्य पर स्पष्ट

प्रभाव है। इसी प्रकार एच जी वेल्स और गाल्ज़वर्दी के विचारों ने उनकी कला को विशिष्ट रूप दिया है।

साहित्य और कला सामाजिक और सांस्कृतिक विकास पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं। वे पाठक के संस्कारों को बदलने की क्षमता रखते हैं। मनुष्य के अन्तर्तम को वेध कर वे उसे नवीन जीवन-दृष्टि अपनाने पर विवश करते हैं। मनुष्य के चिन्तन को वे क्रान्तिकारी दिशा देते हैं। यह प्रभाव हम गोर्की अथवा मायाकोवस्की के समान कलाकारों की कृतियों में देखते हैं।

साहित्य पाठक के मूलभूत विचारों को प्रभावित करता है। हम मनुष्य के दुःख से द्रवित होकर संसार और जीवन के प्रति बुनियादी प्रश्न उठाते हैं। क्यों मनुष्य अपने जीवन में इतनी पीड़ा का शिकार बनता है? बाइबिल में वर्णित जोब की कथा, ग्रीस के दुःखान्त नाटक और हार्डी के उपन्यास पढ़ कर ऐसे प्रश्न हमारे मन में उठते हैं और इनका कोई संतोषप्रद उत्तर हमें नहीं मिलता।

श्रेष्ठ साहित्य मनुष्य को अधिक समुन्नत प्राणी बनाता है, उसकी अनुभूतियों और भावनाओं का परिष्कार करता है, उसके चिन्तन को प्रभावित करता है। मानव संस्कृति कला और साहित्य की उपलब्धियों से समृद्ध हुई है। संस्कृति के निर्माण में साहित्य की निर्णायक भूमिका रही है।

महाराणा कुम्भा का संगीतराज : परिचयात्मक विवरण

प्रेमलता शर्मा

पन्द्रहवीं शती ई० में मेवाड़ (राजस्थान) के प्रतापी शासक महाराणा कुम्भा द्वारा रचित विराट् ग्रन्थ 'संगीतराज' अपने बृहद् आकार, प्रतिपाद्य विषयवस्तु की व्यापकता, विषयनिरूपण की शास्त्रीय शैलो, विपुल उदाहरणों की प्रस्तुति, महत्त्वपूर्ण प्राचीन उल्लेखों के आकलन इत्यादि के कारण भारतीय संगीतशास्त्र में अद्वितीय स्थान का अधिकारी है।

१. ग्रन्थ का आकार और अध्याय-विभाजन-क्रम

यह ग्रन्थराज ५ खण्डों में विभक्त है, यथा—१. पाठ्यरत्नकोश, २. गीतरत्नकोश, ३. वाद्यरत्नकोश, ४. नृत्यरत्नकोश, '५. रसरत्नकोश। पाँच की संख्या भारतीय दर्शन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिव के पंच मुख, पञ्चतन्मात्रायें, पञ्चमहाभूत. मनुष्य की पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और उनके पंच विषय—इन सब में इस सख्या का महत्त्व व्याप्त है। अस्तु, प्रत्येक कोश में चार 'उल्लास' और प्रत्येक उल्लास में चार 'परोक्षण' हैं। इस प्रकार पूरा ग्रन्थ पाँच कोश, बीस उल्लास और अस्सी परीक्षणों में विभाजित है। ग्रन्थ की श्लोकसंख्या षोड़श-सहस्र कही गई है, प्रत्येक पुष्पिका में 'षोड़शसाहस्त्र्यां संगीतमीमांसायाम्'* ऐसा उल्लेख मिलता है। छोटे बड़े छन्दों में निबद्ध श्लोकों, उदाहरण परक गीतों और कोष्ठकों, गद्य-पुष्पिकाओं इत्यादि के रूप में ग्रन्थ की पूरो सामग्री को ३२ अक्षरों की इकाइयों में गिनने से यह संख्या पूरी हो सकती है। प्रतिलिपिकार का पारिश्रमिक निर्धारित करने के लिये 'श्लोक' अथवा 'ग्रन्थ' का परिमाण ३२ अक्षर हो माना जाता था। वैसे केवल पद्य-सख्या ही देखी जाय तो प्रायः दस हज़ार ही होगी। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में हैं, फिर भी आर्या, उपजाति, वसन्ततिलका शार्दूलविक्रीडित इत्यादि छन्द भी यत्र-तत्र मिलते हैं। केवल पुष्पिकायें ही गद्य में लिखी गई हैं। उदाहरणपरक स्वरावलियाँ और ताल के सांकेतिक वर्ण तक पद्यबद्ध किये गये हैं। आकार की दृष्टि से यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र से प्रायः दुगना और शार्ङ्गदेव के संगीतरत्नाकर से प्रायः तिगुना है।

---

* 'संगीतराज' के ऊपर नाम के रूप में संगीतमीमांसा' का उल्लेख पुष्पिकाओं में सर्वत्र मिलता है।

२. प्रतिपाद्य विषय वस्तु

प्रथम पाठ्यरत्नकोश में ग्रन्थ की भूमिका के रूप में ग्रन्थकार का परिचय, ग्रन्थप्रतिज्ञा, आरम्भ-समर्थन, संगीतस्तुति, अनुक्रमणिका एवं संगीतशास्त्र की संज्ञाओं और परिभाषाओं का संग्रह दिया गया है।

इसी में पाठ्यनिरूपण के अन्तर्गत पद, वाक्य, छन्द, लक्षण (भरतोक्त छत्तीस लक्षण जिन्हें अलङ्कार का पूर्वरूप माना जाता है), अलङ्कार, गुण, दोष—इतने विषयों का समावेश है। संगीत के अन्तर्गत 'गीत' में पाठ्य का स्थान है ही, और इसीलिये ग्रन्थकार ने पाठ्य का यह निरूपण उचित समझा है। इन सब विषयों का निरूपण करनेवाला यही अकेला संगीत-ग्रन्थ है। संगीतशास्त्र की संज्ञाओं और परिभाषाओं का पाणिनि के संज्ञा व परिभाषा सूत्रों के आदर्श पर आकलन भी इस ग्रन्थ की निजी विशेषता है। द्वितीय गीतरत्नकोश में स्वरोल्लास के अन्तर्गत स्थानक, श्रुति, स्वर, ग्राम मूर्च्छना, तान, साधारण, वर्ण, अलंकार और जाति—इतने विषय हैं। रागोल्लास में ग्रामराग और देशी रागों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। प्रकीर्णक उल्लास में संगीतशास्त्र के प्रकीर्ण विषयों का और प्रबन्धोल्लास में शुद्ध गीतक के चौदह भेद एवं देशी प्रबन्धों के अनेक भेदोपभेदों का वर्णन है। संगीतशास्त्र का सात अध्यायों में जो विभाजन संगीतरत्नाकर में पाया जाता है उस से संगीतशास्त्र के सभी अध्येता अधिक परिचित हैं। अतः यदि उस विभाजन की दृष्टि से देखा जाय तो गीतरत्नकोश में स्वर, राग, प्रकीर्णक और प्रबन्ध इन चार अध्यायों का, एवं तालाध्याय में से शुद्ध गीतक का विषयनिरूपण मिलता है। विस्तार की दृष्टि से पाठ्यरत्नकोश सब से छोटा और गीतरत्नकोश सबसे बड़ा (पूरे ग्रन्थ का प्रायः आधा भाग) है। वाद्यरत्नकोश में वाद्य और तालाध्याय के विषय, नृत्यरत्नकोश में रस के अतिरिक्त नृत्याध्याय के सभी विषय एवं रसरत्नकोश में नृत्याध्याय के रस प्रकरण का विस्तृत प्रतिपादन है। इस प्रकार संगीतशास्त्र के परम्परागत विषयों का नवीन सन्निवेश और पाठ्यान्तर्गत विषयों का ग्रहण, ये दो विशेषतायें इस ग्रन्थ के पाठक का ध्यान सहज ही आकर्षित करती हैं।

३. विषय-निरूपण-शैली और उदाहरण

हमारे ग्रन्थकार ने प्राचीन शास्त्रार्थ-शैली का खुलकर उपयोग किया है। इस शैली में पूर्वमीमांसा का स्पष्ट प्रभाव और नव्य न्याय के प्रभाव का अभाव उल्लेखनीय है। शास्त्रार्थ के

कुछ प्रसङ्ग इस प्रकार हैं—१—आरम्भसमर्थन में धर्मशास्त्रों में संगीतसंबन्धी निषेधात्मक उल्लेखों को पूर्वपक्ष में रख कर उनका उत्तर, २—श्रुति-संख्या-निर्धारण, ३—संवादतत्त्व-निरूपण ४—मतङ्गोक्त द्वादश स्वर-मूर्च्छनाओं का खण्डन, ५—तानों के यज्ञनामों की सार्थकता का स्थापन, ६—सात्त्विक अभिनय का स्वरूप-निर्धारण। सात्त्विक भावों के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ दो सौ से अधिक श्लोकों तक चलता है और इस प्रसङ्ग में इतने तर्क उपस्थित किये गये हैं कि आश्चर्य होता है। सात्त्विक भाव पर थोड़ा सा विचार हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में मिलता है; इतने अधिक मत-मतान्तरों का संग्रह लेखक ने कहीं से किया होगा तो कहाँ से, या स्वयं ही उनको उद्भावना की होगी, यह कहना कठिन है। शास्त्रीय निरूपण को प्रभावशाली और काव्यमय बनाने की भी हमारे ग्रन्थकार में अपूर्व प्रतिभा है। राजशेखर के शब्दों में हम उन्हें शास्त्रकवि और काव्यकवि दोनों कह सकते हैं।

उदाहरण प्रस्तुत करने में भी हमारे ग्रन्थकार ने विशेष मौलिकता का परिचय दिया है। मूर्च्छनाओं के ५६ भेद, मूर्च्छना-तानों के ८४ भेद, इन सब का कोष्ठकों में उदाहरण और शुद्ध गीतकों के १४ भेदों के स्वनिर्मित उदाहरण विशेष उल्लेखनीय हैं।

४. पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के मतोद्धरण

हमारे ग्रन्थकार ने प्रायः चालीस पूर्वाचार्यों का स्मरण किया है जिन में से प्रायः दस के किसी मत का उल्लेख नहीं किया है। प्रायः तेरह पूर्वाचार्यों के ऐसे मत उद्धृत किये हैं जो या तो उनके अधुना उपलब्ध ग्रन्थों में अथवा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों में प्रायः उसी रूप में मिल जाते हैं। किन्तु कुछ पूर्वाचार्यों के ऐसे उद्धरण भी संगीतराज में मिलते हैं जिनके विषय में अन्यत्र या तो केवल नाममात्र की जानकारी उपलब्ध है और या फिर बहुत ही खण्डित अथवा अपूर्ण वचन मिलते हैं अथवा जिनके मत संगीतराज की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकरणों में ही ज्ञात हैं; जैसे क्षेत्रराज, चन्द्रशेखर भोजराज (एला-प्रबन्ध के प्रसङ्ग में इन के मत का स्मरण किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि भोजराज के नाम से कोई संगीतग्रन्थ भी प्रचलित रहा होगा जो आज अनुपलब्ध है), मातृगुप्त, विशाखिल, षण्मुख, कोहल, नारद, नन्दिकेश्वर, याष्टिक। मतङ्ग के भी कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं, या कुछ ऐसे प्रसङ्गों में उसका परोक्ष उल्लेख हुआ है, जो अधुना उपलब्ध 'वृहद्देशी' के पाठ में कहीं नहीं मिलते; उदाहरण के लिये 'वृहद्देशी' का देशीराग-प्रकरण आज विल्कुल लुप्त हो चुका है, किन्तु संगीतराज में इस प्रकरण में रागध्यान के प्रसङ्ग में मतङ्ग का नाम कई वार लिया गया है। इससे यह अनुमान

किया जा सकता है कि मतङ्ग ने अवश्य ही रागध्यान की किसी पद्धति का उल्लेख किया होगा और वह उल्लेख आज लुप्त होने पर भी हमारे ग्रन्थकार को अवश्य उपलब्ध रहा होगा।

पूर्वग्रन्थकारों के प्रति हमारे ग्रन्थकार का भाव भी उल्लेखनीय है। आदिम आचार्य भरत के प्रति उन्हें अगाध श्रद्धा है, कई स्थानों पर उनके नाम के साथ 'भगवान्' का उल्लेख मिलता है। भरत के बाद मतंग और अभिनवगुप्त उनके मुख्य उपजीव्य हैं। अभिनवगुप्त का जितना स्पष्ट प्रभाव 'संगीतराज' में दिखाई देता है, उतना अन्य किसी संगीतग्रन्थ में नहीं। शार्ङ्गदेव के प्रति हमारे ग्रन्थकार का भाव कुछ सम्मानपूर्ण नहीं है, यद्यपि जहाँ तक प्रतिपाद्य विषयवस्तु-संग्रह का संबन्ध है, उन पर शार्ङ्गदेव का सर्वाधिक प्रभाव स्पष्ट है। शार्ङ्गदेव के नामोल्लेख के बिना कई स्थानों पर उनके मत के साथ 'केचित्' इस प्रकार के सामान्य उल्लेख और कहीं 'कश्चित् साहसनिष्ठुर' इस प्रकार के परोक्ष असम्मानसूचक उल्लेख मिलते हैं। जहाँ कहीं शार्ङ्गदेव का नामोल्लेख है, वहाँ उससे मतभेद ही प्रकट किया गया है। सारांश यह कि अपने मत की पुष्टि के लिए हमारे ग्रन्थकार ने एक बार भी उनका नाम नहीं लिया है। विषयवस्तु सन्निवेश की योजना में ग्रन्थकार ने अपनी मौलिक दृष्टि रखी है, यह हम देख ही चुके हैं। विषयवस्तु संग्रह में जो प्रभाव शार्ङ्गदेव का दिखाई देता है, उसके विषय में संभवतः ग्रन्थकार का यह भाव रहा हो कि वह सब कुछ तो परम्परा प्राप्त ही था, उसमें शार्ङ्गदेव की विशेष मौलिकता न होने से उनके प्रति अपने को ऋणी मानने की क्या आवश्यकता ?

५ ग्रन्थकार का परिचय

इतिहास में महाराणा कुम्भा के नाम से प्रसिद्ध नृपति कुम्भकर्ण का जन्म सुविख्यात सूर्यवंश की प्रसिद्ध गुहिलोत शाखा की वंशावली में हुआ। इस शाखा में इतिहास-प्रसिद्ध क्रम यों है—हम्मीर—खेता—लाखा—मोकल—कुम्भा। इनका राज्यारोहण-काल सन् १४३४ ई० माना जाता है। पैंतीस वर्ष के सुदीर्घ शासनकाल में अद्भुत शौर्य, पराक्रम, कलाप्रेम, रचनात्मक प्रतिभा आदि के ये धनी रहे हैं। युद्धक्षेत्र में इनकी चिरस्मरणीय वीरता के कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं—मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी प्रथम पर १४३७-३८ ई० में विजय, सुल्तान को बन्दी बनाना और बाद में औदार्यवश उसे मुक्त कर देना, आबू, झालावती, बूँदी, आम्बेर और रणथम्भोर पर विजय, नागौर के मुस्लिम शासकों से सफल संघर्ष, मालवा के सुल्तान पर पुनः १४४३, १४४६, १४५४ ई० में विजय, मालवा और गुजरात के सुल्तानों के सम्मिलित आक्रमण में १४५६ ई० में विजय।

पूरे राज्यकाल में विधर्मी पड़ोसी शासकों के साथ घोर संघर्षरत रहने के लिये बाध्य होने पर भी महाराणा कुम्भा ने शिल्प, कला, विद्या, शास्त्र आदि के निर्माण में और अध्ययन की प्रवृत्ति को जो प्रोत्साहन दिया, उसके लिये राजा भोज को छोड़ कर इतिहास में समकक्ष उदाहरण मिलना कठिन है। संगीत में 'संगीतराज' और 'रसिकप्रिया' ये दो अमर कृतियाँ ही उन्हें प्रभूत यशस्वी बनाने के लिये पर्याप्त है, किन्तु वास्तु-कला में उन्होंने नवीन निर्माण और स्थापत्य शास्त्रप्रणयन को जो अपूर्व प्रोत्साहन दिया है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सूत्रधार-मण्डन जैसे विख्यात स्थापत्य शास्त्री को उन्होंने आश्रय दिया और मण्डन ने आठ शास्त्रग्रन्थों की रचना की, जिनमें से 'प्रासादमण्डन', 'रूपमण्डन', 'वस्तुमण्डन' विख्यात हैं। वास्तुकला की जिन कृतियों के निर्माण में वे प्रयोजक रहे उनमें से चित्तौड़गढ़ का सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ कुम्भलगढ़, चित्तौड़गढ़-अचलगढ़ और कुम्भलगढ़ में कुम्भस्वामी के मन्दिर इत्यादि प्रमुख हैं। मेवाड़ के शासकवंश के कुलदेवता एकलिङ्ग के मन्दिर का जीर्णोद्धार और चित्तौड़गढ़ पर रथ-मार्ग का निर्माण भी उनके महत्त्वपूर्ण कार्यों में माने जाते हैं। राणकपुर के विश्वविख्यात जैनमन्दिर भी उन्हीं के राज्यकाल में जैनों द्वारा निर्मित हुए।

संगीतराज जैसे विराट् ग्रन्थ के प्रणयन का अवकाश जीवनभर युद्धरत रहने वाले शासक को किस प्रकार मिला होगा यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। उस सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि संगीतराज का अक्षरशः प्रणयन कुम्भा ने भले ही न किया हो, किन्तु इस महत् कार्य की योजना और उसका सूक्ष्म निरीक्षण करने का भार उन्होंने अवश्य ही स्वयं वहन किया होगा। भारतीय संस्कृति की सुदृढ़ सुरक्षा के प्रति कुम्भा के सतत जागरूकता-पूर्ण आग्रह का एक महान् प्रतीक है 'संगीतराज', जिसमें भारतीय संगीतशास्त्र की प्राचीन परम्परा की रक्षा का आग्रह पद-पद पर दिखाई देता है ; उदाहरणार्थ संगीतशास्त्र को उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित करने का महत् प्रयास उल्लेखनीय है।

धर्मप्राण कुम्भा के व्यक्तित्व का धर्मसम्बन्धी पहलू उनकी कृतियों में सर्वत्र व्याप्त है। वंशपरम्परानुसार वे नकुलीशमतानुयायी शैव थे, किन्तु पंचोपासक होने के कारण उनमें वैष्णवविरोध का कहीं नाम-मात्र भी नहीं है। खेद की बात है कि महाराणा कुम्भा के व्यक्तित्व और कृतित्व का अभी तक भारतीय इतिहास में सही मूल्याङ्कन नहीं हो सका है।

६. ग्रन्थकार की अन्य साहित्यिक रचनाएं

कुम्भा द्वारा रचित निम्नलिखित अन्य ग्रन्थों का सन्धान मिलता है।

भ्रान्तियों का उद्भव हुआ। इनका मुख्य कारण यही था कि ग्रन्थ की सम्पूर्ण पाण्डुलिपियाँ जो बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित थीं उनका अवलोकन किये बिना कभी अत्यन्त खण्डित पाण्डुलिपियों के आधार पर और कभी गतानुगतिक मात्र से इस ग्रन्थ का अस्पष्ट, अपूर्ण अथवा भ्रान्त परिचय विद्वत्समाज में प्रचलित हो गया। आरम्भ में 'संगीतराज' और 'संगीतमीमांसा' एक ही ग्रन्थ के इन दो नामों को स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लिया गया (द्रष्टव्य एफ० कीलहार्न का 'ए क्लासिकल केटेलाग अव् संस्कृत मन्युस्क्रिप्ट्स्' पृ० ९६, इसी उल्लेख का अनुसरण डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'उदयपुर का इतिहास' पृ० ३१, ६२६ में और श्रीहरविलास शारदा ने 'महाराणा कुम्भा' द्वितीय संस्करण पृ० १६६ में किया है)। डॉ० राघवन् ने सम्भवतः सर्वप्रथम इसका प्रामाणिक परिचय दिया किन्तु उन्हें भी ग्रन्थ की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं थी, और उनके अध्ययन का आधार पूना के भण्डारकर प्राच्य विद्यासंस्थान में सुरक्षित एक बहुत ही खण्डित पाण्डुलिपि थी (द्रष्टव्य-एनाल्स अव् द भा० ओ० रि० इ० पूना जिल्द १४, १९३२-३३, पृ० २५८-२६२)। डॉ० सुशीलकुमार दे और महामहोपाध्याय काणे ने फ्रेंच विद्वान् बी० रेन्यौ के 'ल रेतोरीक' में प्राप्त 'रसरत्नकोश' सम्बन्धी उल्लेख को उद्धृत किया है और इसे रस-सम्बन्धी एक स्वतन्त्र लघु ग्रन्थ मान लिया है। वास्तव में यह संगीतराज का पञ्चम कोश है। इस ग्रन्थ का उचित मूल्याङ्कन सर्वप्रथम कृष्णमाचारी के 'हिस्ट्री अव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (१९३७) में पृ० ८६२ पर मिलता है जहाँ उन्होंने यह कहा है कि इस के विशद अध्ययन के बिना भारतीय संगीतशास्त्र में आधुनिक अनुसन्धान पूर्ण नहीं हो सकता। प्रो० रामकृष्ण कवि ने अपने 'भरतकोश' (१९५१) में संगीतराज में से प्रायः १४०० उद्धरण विभिन्न प्रसङ्गों में दिये हैं, यद्यपि पाठसंशोधन का कोई प्रयत्न नहीं किया है। विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित करने का सर्वाधिक श्रेय प्रो० कवि को ही है।

इस ग्रन्थराज के बहुत ही लघु अंश प्रो० कुन्हनराजा द्वारा बीकानेर से १९४६ में प्रकाशित 'पाठ्यरत्नकोश' और राजस्थान प्राच्य अनुसन्धान परिषद् द्वारा १९५७ में प्रकाशित 'नृत्यरत्न कोश' के पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाश में आये थे। काशीहिन्दू विश्वविद्यालय से प्रस्तुत लेखिका के सम्पादकत्व में इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण प्रकाशन पाठ-संशोधन-सहित हो रहा है। प्रथमखण्ड दिसम्बर १९६३ में प्रकाशित हो चुका है। इस में पाठ्य और गीतरत्नकोश थे। शेष वाद्य, नृत्य और रस सम्बन्धी कोश द्वितीय खण्ड में मुद्रित हो रहे हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में भारतीय संगीतशास्त्र के अध्ययन में विशेष प्रगति हो सकेगी और कई समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ सकेगा, ऐसा विश्वास है।

गान

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हे मोर देवता, भरिया ए देह प्राण
की अमृत तुमि चाह करिबारे पान ॥
आमार नयने तोमार विश्वछवि
देखिया लइते साध याय तव, कवि—
आमार मुग्ध श्रवणे नीरव रहि
शुनिया लइते चाह आपनार गान ॥

आमार चित्ते तोमार सृष्टिखानि
रचिया तुलिछे विचित्र एक वाणी ।
तारि साथे, प्रभु, मिलिया तोमर प्रीति
जागाये तुलिछे आमार, सकल गीति,
आपनारे तुमि देखिछ मधुर रसे
आमार माझारे निजेरे करिया दान ।

—गीताञ्जलि

छाया

हे मेरे देवता (ईश्वर)! इस देह और प्राण में भरकर
कौन-सा अमृत (आनन्द) तुम पान करना चाहते हो।
हे कवि (प्रभु)! मेरे नेत्रों में अपनी विश्वछवि के
(जिस रूप को) देखने की तुम्हारी इच्छा हो (उसे देखो)—
मेरे मुग्ध श्रवणों में नीरव रहते हुए भी
तुम अपना गान (अनाहत् नाद) सुनना चाहते हो।
मेरे चित्त में तुम्हारी सृष्टि (प्रवेश कर)
एक विचित्र वाणी (कवि की कविता) की रचना कर रही है।
उसी के साथ मिलकर हे प्रभु! तुम्हारा प्रेम ही
मेरे सपूर्ण गीतों को जगाता है।
अपने आपको तुम मधुर रस से (युक्त) देखते हो
मेरे अंतरतम में स्वय प्रवेश करके।

वर्णरत्नाकर के सरोवर तथा समुद्रवर्णन की व्याख्या

भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

सरोवर (झील)

ज्योतिरीश्वर ठक्कुर कृत वर्णरत्नाकर (१३१८ ई०) मैथिली का सबसे पुराना और हिन्दी साहित्य में वर्णक साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसकी सांस्कृतिक एवं भौगोलिक शब्दावली की व्याख्या मध्यकालीन जीवन पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक है। वर्णरत्नाकर में झील के लिए सरोवर शब्द आया है।[1] सरोवरवर्णना के संदर्भ में बहुत विस्तार से इसका वर्णन किया गया है[2] जो कादम्बरी के अच्छोद सरोवर सदृश ही है। ज्योतिरीश्वर काल में सरोवर का भौगोलिक और आर्थिक महत्व तो था ही, विनोद के लिए भी मनोरम साधन था। शरद के स्निग्ध चन्द्र के समान यह सुन्दर है। किन्तु बौद्ध पक्ष जैसा आपातभीषण और बौद्धविरोधी उदयन के सिद्धान्त सदृश ही प्रसन्न दिखता है सरोवर। इसी प्रकार योगी के निर्मल चित्त जैसा सौम्य और हरिश्चन्द्र के त्याग जैसा यह अगाध है। कमल, कोकनद, कल्हार, कुवलय, कुमुद से यह उपशोभित तथा वेश्या के कटाक्ष की भांति चंचल है। भ्रमरों से गुंजित तथा वाउसि, वसाढ़, बोआर (बोआरो), वचा, वामु (वामी), अरि (अरिया), मोञे (भूना), कोन्धु, नयना (मिरका), नायर, सौंर (सांरा), मिलिन्धि प्रभृति मछलियों से वलवलायमान है। मगर, सोह, सौंस, कछुए, साङ्कुच, घड़ियार, उद, नक्र आदि जलजन्तु तथा कमल, कुम्भीर के वन से सरोवर अत्यन्त भयावह लगता है। हंस, कलहंस, सारस, सरालि, सिन्धु, कङ्कारी, कराल, कोयष्टि, काण्डव, कुकुल, खएर, आञ्जन, मोरापालि, वक, पुण्डेरि चक्रवाक प्रभृति जलचटक (जलपक्षी) से सुशोभित है। कतर (कएर), ठोड (वघसीम), उञुया (अभुआ), पतकाछु प्रभृति कछुए तथा वराटी, नागुल, चीतर, चउसिङ्ग, मुण्डघोस, झंआर, घोरा, रोहल प्रभृति मृग से मंडित सरोवर क्रीड़ा का स्थल है। सरोवर में बनैले सुअरों की शोभा देखते बनती है। वर्षा के मेघ के समान इसका आकार है। मंगल के उदय के समान नेत्र है। शुक्लपक्षीय पंचमी के चांद के समान घूमे हुए दांत है। डोरी कटे पतंग के समान इसका वेग है। दुर्योधन जैसे अभिमानी, अर्जुन जैसे पराक्रमी, स्तम्भ जैसे कठोर, दुर्जन की बुद्धि सदृश स्थूल कंधेवाले, छोटे कान, छोटी पूछ और मोटे अंग वाले ये सुअर कैले की जड़ को खोदकर

---

१. वर्ण० पृ० ३९।
२. वही, पृ० ३९-४०।

सरोवर के पक से लिप्त हो सरोवर-तटवर्ती वृक्ष की छाया में मग्न हो लेटे है। देखने में ये कार (काले), कावर (चितकबरे), चलक (उजले), गोल (गेहुमने), धूमशोन (धुए जैसे), मुमरो (मूसे जैसे), कइल (अतिशुभ्र), पाण्डर (पाडुर स०, पेलहवाइट अ०) आदि वर्णों के है।

सरोवर में मज्जन३ (डुबकी लगाना), उन्मज्जन (उगना), जलास्फार (जल को फारना), शीकरविक्षेप४ (पानी के छींटे देना), गण्डूषचल५ (मुह या अजुलि में भर कर पानी फेंकना), नाकजल, बुद्बुद, अवगाहन प्रभृति जलक्रीड़ा प्रकार सुहावने लगते है।

समाश्रृगार के सरोवर सम्बन्धी तीन वर्णक६ बड़े ही महत्व के है। पहले वर्णक में बताया गया है कि ऋषि अगस्त्य के रोष के कारण ही मानो सृष्टिकर्ता ने यह नया समुद्र बनाया है। दतशूल दिग्गजों पर अवस्थित (निरालम्ब) आकाश ही इस सरोवर का विश्रामस्थल है। अथवा, आदिवराह ने दात से उठाकर पृथ्वी का उद्धार किया उसमे दरारे पड़ीं जिनसे यह सरोवर बह निकला। वन-लक्ष्मी के लिए यह नया क्रीड़ासरोवर हुआ। अथवा, नीलकठ महादेव ने तृषा उत्पन्न होने पर पानी लाने का सकल्प कर इस सरोवर का निर्माण किया। ब्रह्मा ने लोककल्याण के लिए मानो यह अमृतकुण्ड लाकर रखा है। अथवा, सत्कवियों के सहस्रमुख से निकला हुआ वचनामृत मानो पिण्डीभूत होकर यह सरोवर बन गया है। इसका तल श्वेत स्फटिक से निर्मित है। पाल पर वृक्षावलि सुशोभित हो रही है। इसमें हस, बगुले, चकोर आदि पक्षी नहाते हुए चहचहा रहे है। सूरज के प्रकाश मे इसकी चमक चकाचौंध कर रही है। जलजन्तु घूम रहे है। पथिकों के श्रम को हरण करने वाला यह सरोवर है।

दूसरे वर्णक के अनुसार यह सरोवर मानो पानी का परकोटा है। देवालयों का समूह चारों ओर शोभायमान है। चारों कोनों पर दीप चौकिया प्रकाशित हो रही है। सोपान-पक्ति से टकराकर खल-खल करता पानी बह रहा है। लहरे मालाए उछाल रहीं है। मतवाले हाथी फव्वारे छोड रहे है। समुद्र की तरह गभीर है। नौकाए तैर रही है। शवाल का जाल जमा है। देवालय के सुनहरे दण्ड-कलश चमक रहे है। जल भरनी वधुओं

---

३ प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तकाति , रत्नावली, १।२१।

४ गतमुपरि घनाना वारिगर्भोदराणा पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमि , अभिज्ञान शाकुतल, ७।७।

५ कुमारसभव, ३।३७ , मालविकाग्निमित्रम् ९।३४।

६ समाश्रृगार, पृ० २५-२६।

के नूपुर खनखना रहे हैं। वीणा और बांसुरी बज रही है। मेघमल्लार गाये जा रहे हैं। कमल और कमलिनियों से यह सुशोभित है। हंस, सारस और कपिजल किलकिला रहे हैं।

समुद्र

ज्योतिरीश्वर ने समुद्र का सांगोपांग चित्रण किया है। भारतीय भूगोल के साथ सदा से ही समुद्र का गहरा सम्बन्ध रहा है। जिस प्रकार उत्तर में भारत हिमालय पर्वत-श्रेणी से घिरा हुआ है उसी प्रकार पूरब, पश्चिम और दक्षिण में समुद्रों से भी। भारत का दर्शन तबतक पूर्ण नहीं होता जबतक तीन सीमान्तों पर उसका पाद-प्रक्षालन करनेवाले समुद्रों का दर्शन न कर लिया जाय। समुद्र में हमें मेघों की वार्षिक विभूति मिल जाती है। जल से भरे हुए समुद्र, नदी-निर्झरों की धाराएं और अन्न से लहलहाते खेत इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध ऋषियों ने भी कहा है७। इस देश के पूर्ण स्वरूप की परिभाषा भी समुद्र और पर्वत के सान्निध्य में बनी है। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण का भूभाग यहां हमेशा से एक देश माना गया। इस देश का नाम भारत और जनता को भारती प्रजा कहा गया। पुराणों में भारत की यह भौगोलिक एकता स्पष्ट रूप से वर्णित है।

> उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवद्दक्षिणं च यत्।
> वर्षं यद् भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा।८

इसी भाव को कई प्रकार से अन्यत्र व्यक्त किया गया।९ समुद्रतट की कन्याकुमारी से लेकर हिमालय में गंगास्रोत तक फैली हुई भूमि भारत है।१० इस प्रकार दक्षिण के गर्जनशील महासागरों के साथ भारत का उतना ही अभिन्न सम्बन्ध बना जितना कि उत्तर की गिरिश्रृंखला

---

७. 'यस्यां' समुद्र उत्सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः, पृथिवीसूक्त ३।

८. वायुपुराण ४५-७५।

९. विष्णुपुराण में उक्त श्लोक इस प्रकार से मिलता है—
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ (विष्णु० २।३।१)

१०. 'आयतो ह्याकुमारीतो गंगायाः प्रवहावधिः, मत्स्यपुराण ११४।१०।
'आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा प्रभवाच्चवै', वायु० ४५।८१।

के साथ। पौराणिक कल्पना के अनुसार इस विस्तार के एक सिरे पर हिमालय में शिव और दूसरे पर कन्याकुमारी में पार्वती है और शिव तक पहुचने के लिए कुमारी पार्वती दक्षिण के समुद्र तट पर घोर तप करती है जो इस देश की आंतरिक एकता का प्रतीक है। अति प्राचीन काल में ही हमारे पूर्वजों ने इस देश को पार्थिव वर्णों का समूहमात्र न समझ कर मातृभूमि की सज्ञा प्रदान की और इसमें सतत सचरणशील चेतन प्राणधारा का साक्षात्कार किया। तभी उन्होंने समुद्रों का लहराता परिधान धारण करनेवाली माता को प्रात उठकर प्रणाम करने का अभ्यास किया।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे।

भारत महासागर के पूर्वी भाग का नाम महोदधि है और पश्चिमी भाग का रत्नाकर। महोदधि (बगाल की खाड़ी) और रत्नाकर (अरब सागर) के सगमस्थल पर कुमारी अन्तरीप है। प्राचीन साहित्य में इन भौगोलिक शब्दों की भरमार है। कालिदास के वर्णन के अनुसार जैसे चन्द्रमा को देखकर महोदधि में ज्वार आ जाता है उसी प्रकार नवजात पुत्र रघु को देखकर दिलीप को आनन्द हुआ११। कवि ने रघु की पूर्वयात्रा के प्रसग में बताया है कि वे अपनी सेना के साथ महोदधि के किनारे पहुच गए जो तट पर खड़े हुए ताड के वृक्षों की छाया पड़ने से काला दिखाई पड़ रहा था१२। इसी प्रकार पुष्पक विमान पर चढ़कर लका से लौटते हुए राम ने रत्नाकर को स्वय देखा और सीता को दिखलाया१३। इसी प्रसग में समुद्र की उत्पत्ति और इससे समुद्भूत पदार्थों की विस्तृत चर्चा है। जब महाराजा सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब कपिल उनका घोड़ा पाताल लोक में चुरा ले गए। उस समय सगरजी के पुत्रों ने घोड़े की खोज करने के लिए सारी पृथ्वी खोद डाली, उसी से यह समुद्र इतना लम्बा चौड़ा बन गया१४। समुद्र में से सूर्य की किरणे जल खींचती हैं और पृथ्वी पर बरसती हैं। इसी में रत्न बढ़ते हैं, अपने शत्रु बड़वानल को भी यह अपनी गोद में पालता है और प्रकाशवाला

---

११ 'महोदधे पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरु प्रहर्ष प्रबभूव नात्मनि', रघुवश, ३।१७।

१२ 'पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जन पदाञ्जयी।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठ महोदधे ॥ (रघु० ४।३४)

१३ 'रत्नाकर वीक्ष्य मिथ स जाया समाभिधानो हरिरित्युवाच', रघु० १३।१।

१४ वही, १३।३।

सुखकारी चन्द्रमा भी उसी से उत्पन्न हुआ है[१५]। ज्योतिरीश्वर ने भी 'रत्नाकर' का उल्लेख किया है[१६]। फिर भी समुद्र के अनेक पर्यायों में उसे 'समुद्र' से ही अधिक प्रेम है[१७]। कालिदास ने तो अनेक पर्यायों का प्रयोग किया है : अर्णव,[१८] अम्बुराशि,[१९] तोयनिधि,[२०] महोदधि,[२१] रत्नाकर,[२२] समुद्र[२३] और सागर[२४]। मत्स्य पुराण में 'उदधि' का लक्षण है—'दधानाच्चोदधिः स्मृतः'[२५]। वायुपुराण में 'उदकस्याधानं यस्मात् तस्मादुदधिरुच्यते' कहा गया है[२६]। मत्स्य पुराण में समुद्र का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—अपां चैव समुद्रेकात् समुद्र यति संज्ञितः[२७]। ज्योतिरीश्वर ने सात समुद्र का दो स्थानों पर उल्लेख किया है[२८]। जैनों के प्राचीन ग्रंथ प्रज्ञापना (२५० ई० पू०) में[२९] हमें आठ महासागरों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—१-लवणोद, २-कालोद, ३-पुष्करोद, ४-वरुणोद, ५-क्षीरोद, ६-घृतोद, ७-इक्षूद तथा ८-नंदीश्वर समुद्र। इन समुद्रों से अग्रलिखित महाद्वीप घिरे हुए हैं—१-जंबू द्वीप २-धातकी खंड, ३-पुष्करवर, ४-वरुणवर, ५-घृतवर, ६-इक्षुवर, ७-नंदीश्वर। तत्वार्थाधिगम[३०]

---

१५. वही, १३।४।
१६. वर्णरत्नाकर, पृ० ६२।
१७. वर्णरत्नाकर, पृ० ७-५५-३४, -३६।
१८. रघुवंश ६।५६।
१९. वही, ६।५६, १३।२।
२०. कुमारसंभव, १, १।
२१. रघु० ३।१३, ४।३४।
२२. वही, १२।१।
२३. वही, २।३, ३।२८, कुमारसंभव ८।६१।
२४. रघु० १।२, ३।६, ४।३२।
२५. मत्स्य० १२२।३५।
२६. वायु० ४८।१३२।
२७. मत्स्य० पुराण, १२२।२८।
२८. 'सातहु समुद्र क्षोभ भह गउ,' वर्ण० पृ० ३४।
'सातओ समुद्र उल्लसित भइ गउ, पृ. ३६।
२९. आय समक्त प्रज्ञापना, मलयगिरि (१३वीं शती) की टीका सहित, अ० १' पृ० ३०७।

३०. तत्वार्थाधिगमसूत्र, अकलंकदेव (८वीं शती ई०) की टिप्पणी सहित, अ० ३, सूत्र ७, टीका।

तथा सूर्यप्रज्ञप्ति[३१] में भी यही नामावली मिलती है। जायसी ने सात समुद्र की चर्चा की है। वे हैं—१ खारी समुद्र, २-खीर समुद्र, ३ दधि समुद्र, ४-उदधि समुद्र, ५-सुरा समुद्र, ६-किलकिला समुद्र और ७ मानसर समुद्र[३२]।

शब्दकल्पद्रुम में अग्निपुराण का उद्धरण देते हुए सात सागर के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं– लवण, क्षीर घृत, दधि, सुरा, इक्षुरस और स्वादु।[३३] पातंजल योगसूत्र में इक्षुरस, सुरा, सर्पि (माखन), दधि, मण्ड (माड), क्षीर (दूध) और स्वादूदक—इस क्रम से सप्तसागर सूची सन्निविष्ट है[३४]। सिद्धान्तशिरोमणि नामक ज्योतिष ग्रंथ में क्षार, क्षीर, दधि, घृत, इक्षु, रस और स्वादुजल के क्रम का निर्वाह हुआ है[३५]। महाकवि कालिदास ने भी इसी पौराणिक स्रोत को अपनाया[३६]। संस्कृत काव्यों से विरासत रूप में इस परम्परा को हिन्दी साहित्य के आदिकालीन कवियों ने अपना लिया[३७]। वर्णरत्नाकर के सौ वर्ष बाद लिखित 'पृथ्वीचंद्र चरित्र' में भी सात समुद्रों के नाम—क्षीर, घृत, इक्षु, नदीसर, अरुण समुद्र, अरुणवर समुद्र और अरुणवरावभाससमुद्र दिए गए हैं[३८]। इन्हीं सूचियों को जायसी ने कुछ परिवर्तित नामों के साथ स्वीकार किया जिसका ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस प्रकार प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में हम सप्तसागर सम्बन्धी कविप्रसिद्धि की चर्चा थोड़े बहुत हेरफेर के साथ सर्वत्र पाते हैं।

वर्णरत्नाकर के अनुशीलन से परिलक्षित होता है कि कविशेखर ज्योतिरीश्वर को समुद्रविज्ञान का अच्छा परिचय था तथा मध्यकालीन भारतीयों को समुद्रसंचरण का अच्छा ज्ञान था। इसमें समुद्रवर्णन के सिलसिले में सर्वप्रथम समुद्र को वेला, कल्लोल, तरङ्गलहरी, आवर्त्त और झात्कार से समन्वित कहा गया है[३९]। समुद्र विज्ञान के ये पारिभाषिक शब्द ध्यान देने

---

३१ सूर्यप्रज्ञप्ति, प्राभृत १६।

३२ पद्मावत, सात समुद्र खंड।

३३ शब्दकल्पद्रुम, पृ० ५२०।

३४ पातंजल योगसूत्र, अध्याय ३, बंगाली बाबा कृत अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद—कुमारी व्रजरानी देवी, पूना प्रकाशन।

३५ सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश, श्लो० २२, २३।

३६ रघु० १०।२१।

३७ संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, १।१०८, 'सत सिन्धु' तथा ५।२९—'सत समुद'।

३८ प्रा० गु० गं० सं०, पृ० १२७।

३९ समुद्रवर्णना, वर्णरत्नाकर, पृ० ५७।

योग्य हैं। इनमें पहला शब्द 'वेला' है जिसका अर्थ है 'समुद्रतट'४०। तत्वर्थाधिगम के४१ अग्रलिखित शब्द इस पर अच्छा प्रकाश देते हैं: १—वाह्यवेला (वाहरी तट), २—उत्तरवेला (भीतरी तट) तथा ३—अग्रोदक (ज्वारभाटीय तट भाग)। इसी अर्थ में महाकवि कालिदास ने भी कई स्थानों पर 'वेला' का प्रयोग किया है: 'ये जो बड़ी-बड़ी लहरों के जैसे तट पर दिखाई दे रहे हैं ये सांप है जो तट का वायु पीने के लिए बाहर निकल आए हैं। पर जब सूर्य की किरणों से इनकी मणियां चमक जाती हैं तब ये पहचान में आ जाते हैं४२। 'हे सुलोचने! समुद्र तट का वायु तुम्हारे मुख पर केतकी का पराग छिड़क रहा है४३। 'ताड़ और तमाल आदि वृक्षों के प्रसार से श्याम और दूरी के कारण तनु रेखा-सा दीखने वाला फेनिल समुद्र का तट ऐसा लगता है जैसे लौहचक्र के हाशिये पर लगा हुआ मोर्चा'४४।

'कल्लोल' कहेंगे महातरंग या महोर्मि को४५। 'तरंग' का अर्थ है लहर, वीचि या उर्मि। 'लहरी' छोटी तरंग को कहते है। आवर्त्त कहते हैं जलभ्रम वा पानी के भँवर को। समुद्र के भंवर के साथ बादल बड़ी तीव्र गति से चक्कर काटा करते है४६। तरंगों का झोंके के साथ तट से झटकारने के अर्थ में 'झाटकार' का यहां प्रयोग मालूम होता है।

इसके बाद मङ्गल, गोह, गाह, नक्र, कुम्भीर, तिमि तिमिङ्गिल, सुंसु, शांख, सीप, जलहस्ती, जलनाग, जलमानुष आदि जलजन्तुओं से समुद्र को भयावह बताया गया है।

मङ्गल — मङ्गलवृषभ नामक जलजन्तु ज्ञात होता है।

गोह — छिपकिली की तरह आकार में नेवले के बराबर जलजन्तु होता है।

गाह — ग्राह या मगर के अर्थ में आया है।

---

४०. सी कोस्ट, सी शोर—आप्टे—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

४१. तत्वार्थाधिगमसूत्र, अकलंकदेव की टिप्पणी सहित, अध्याय ३, सूत्र ३२, टीका।

४२. वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसंपर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः॥ रघुवंश १३।१२।

४३. 'वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते संभावयत्याननमायताक्षि' वही, १३।१६।

४४. वही, १३।१५।

४५. 'लार्ज वेव'—आप्टे: संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी।

४६. 'प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्त्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः॥ रघुवंश १३।१४

नक्र — घड़ियाल की जाति का नाक नामक जलजन्तु, मिथिला के कोशी क्षेत्र में नकारि नाम से परिचित है। कालिदास के अनुसार मातंगनक्र (मगरमच्छ) समुद्र के फेन को जल की सतह पर सहसा उछाल कर दो भागों में विभक्त कर देते हैं और इस प्रकार वह फेन उनके गण्डस्थलों से लगकर उनके चमड़ों का रूप धारण करते हैं[४७]।

तिमि — अथवा तिमिङ्गिल समुद्र में रहनेवाला मछली के आकार का एक बड़ा भारी जन्तु होता है। प्राचीनकालीन जहाज पर तिमिङ्गिल का आक्रमण करता हुआ एक चित्र[४८] भरहुत की फलकृतियों में मिलता है, जो ई० पू० दूसरी सदी का है।

सुसु — नदी या सागर में ये दल बनाकर चलती हैं और बीच बीच में उछलकर 'सु' शब्द करती हुई पानी के ऊपर भी आती रहती हैं[४९]।

शार्क — 'शर्कों' के झुण्ड तरंगों की शक्ति से जब प्रवाल संघात से टकरा जाते हैं तब बड़ी कठिनाई से वे उनसे छूटकर लौट पाते हैं[५०]।

सीप — समुद्र के तट पर उन सीपियों द्वारा फेंकी हुई मुक्ताराशि बिखरी पड़ी है जिन्होंने तटों पर अपना तन खोल दिया है और जहां पूग वृक्ष अपने फलों के भार से झुक गए हैं[५१]।

जलहस्ती— सील की जाति का एक स्तनपायी जलजन्तु जिसकी शक्ल हाथी से थोड़ी बहुत मिलती है, सिंधुघोटक।

जलनाग— जल में रहनेवाला सर्प जिसका आधा भाग मत्स्य सा होता है।

जलमानुष—एक कल्पित (?) प्राणी है जिसकी नाभि से नीचे की देह मछली की और ऊपर की मनुष्य की मानी जाती है, इसे 'परीरु' भी कहते हैं।

भयावह जलजन्तुओं के अतिरिक्त समुद्र को मुक्ता, प्रवाल, बावट मेस, अहिकान्त, शशिकान्त, सूर्यकान्त, समार, शुनवर्क, वैदूर्य, स्फटिक और टीकपक्षादि रत्नों का आकरस्थान कहा गया है।

---

४७ रघुवंश १३।११।

४८ सार्थवाह, डा० मोतीचन्द्र, फलक ९।

४९ राल्फ मिडिल्टन, मराल, वर्ष १, अंक १२, पृ० २१-२१।

५० रघुवंश १३।१३।

५१ वही १३-१७।

डोङ्गा (डोंगी नाव मछली मारने की), वेणी (एक नाग), वोहित (वोहित्र, जहाज) और जोङ्ग (जोंक वा जलौका, रक्तपायिनी) का समुद्र में संचरण होता रहा है। पाताल तक गहरे समुद्र का तीर विशाल, विस्तृत, सुरम्य और पवित्र हैं।

इसी प्रकार का समुद्रवर्णन मध्यकालीन गुजराती वर्णकों में भी पाते हैं।

(१) समुद्र उच्छल दूहुल कल्लोलमाला मालित गगन मंडलु।
मत्स्य कच्छप कूर्म नक्र चक्र पाठीन पीठ जलचर संकुल।
अतिशय गंभीर, समुद्दंड नीर डिंडीर।
अनेक सार्यांत्रिक लोकसेवित, सोल जाति रत्ननउ आगरु एवं विविध अपारु सागरु ॥५२

(२) समुद्र अगाध, अलब्ध मध्य, गुहिर, गंभीर, आवर्त्त, दुर्ग, कुतीर्थ विषम, मकर भयंकर।५३

इस प्रकार हम मध्यकालीन वर्णक साहित्य में वर्णित समुद्रवर्णन-पद्धति के अनुरूप ही वर्णरत्नाकर का समुद्रवर्णन पाते हैं जिसकी शब्दावली का स्रोत अत्यन्त प्राचीन है।

---

५२. सभाश्रृंगार, विभाग १, वर्णव

५३. वही वर्णक ६६, पृ० २८।

आदिग्रन्थ में संगीत : एक परिचयात्मक दृष्टि

सीता मिश्रा

'आदिग्रन्थ' आदिवेद (ऋग्वेद) की भाँति अध्यात्मशिक्षा का, गुरुमुखी लिपि मे सर्वप्रथम लोकप्रिय ग्रन्थरत्न है। यह 'श्री गुरुग्रथसाहिब' के नाम से भी ख्यात है। इस ग्रथ में गुरु नानक (महला, १), गुरु अगद (म० २), गुरु अमरदास (म० ३), गुरु रामदास (म० ४), गुरु अर्जुन (म० ५), तथा तेगबहादुर (म० ९), इन ■ गुरु कवियों, कबीर, रामानन्द, सेन, रैदास, पीपा, धन्ना, सधना, नामदेव, त्रिलोचन, बेणी, जयदेव, सूरदास, परमानन्ददास, शेख फरीद, भीखन तथा मरदाना। इन १८ भक्तों, सुदर, सत्ता और बलवड तथा ११ अन्य भाटकवियों की रचनाये सन्निविष्ट हैं। इस बृहत् ग्रथ का सम्पादन गुरु अर्जुनदेव ने स० १६५८ मे बड़े वैज्ञानिक एव सुव्यवस्थित ढग से किया था।

आदिग्रथ के सम्पादन के सम्बन्ध मे एक बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि इस १४३० पृष्ठों के बृहत्काय ग्रथ में सकलित बानी के वर्गीकरण का मुख्य आधार ३१ राग हैं, इस से ग्रथ में सगीत के महत्त्व का आभास मिल जाता हैं।

वे ३१, राग, जिनके अन्तर्गत समस्त बानी वर्गीकृत है, निम्नाकित है —

सिरी, माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देवगधारी, बिहागड़ा, वडहस, सोरठि, धनासरी, जैतसरी, टोडी, बैराडी, तिलग, सूही बिलावल, गौड, रामकली, नटनाराइन, मालीगउड़ा, मारू, तुखारी, केदारा, भैरउ, बसतु, सारग, मलार, कानडा, कलिआन, प्रभाती जैजावती।

उपर्युक्त रागों मे माझ, आसा, गूजरी, वडहँस, बैराडी, मारू तथा तुखारी राग आज शास्त्रीय सगीत मे नितात अप्रचलित हैं।

'माझ' और 'आसा' राग जौनपुरी, गौडी, सिंधु आदि रागों की भाँति सम्भवत पजाब के 'माझा' तथा 'आसा' नामक प्रदेशों में प्रचलित किन्हीं लोकधुनों[1] के शास्त्रीय रूप हैं।

सयोग से इधर आदिग्रथ में सन्निविष्ट बानी के गायन की रागियों एव रबाबियों में जो सुदीर्घ परम्परा बानीरचयिताओं के समय से गुरु-शिष्य क्रम से चली आ रही है, उसी पुरातन गायन परम्परा की रक्षा एव प्रचार हेतु[2] गुरुमुखी लिपि म गुरुदास हरिमदिर साहिब अमृतसर के वयोवृद्ध रागी सरदार ज्ञानसिंहजी को 'गुरबाणी सगीत' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित हुई है।

---

१ द्रष्टव्य पजाबी माझा, पृ० २, प्यारासिंह 'पदम' का मत।

२ द्रष्टव्य गुरबाणी सगीत, भूमिका, पृ० 'क' और 'ग'।

इस पुस्तक द्वारा आदिग्रंथ के अधुना प्रचलित एवं अप्रचलित रागनामाङ्कित पदों के स्वरदेह का परिचय पाने में बहुत सहायता मिलती है। 'माझ' तथा 'आसा' राग का स्वरूप भी उक्त पुस्तक में दिया गया है।

'आसा' राग 'मांड' से मिलता जुलता राग है और गुरुद्वारों में यह राग आज भी बहुत प्रचलित है। आदिग्रंथ में इस राग में सबसे अधिक बानी मिलती है। मास्टर मोहनसिंह ने गुरु नानक को इस राग था अविष्कर्ता कहा है।[1]

गूजरी, वडहंस तथा मारू राग आज स्वतंत्र रागों के रूप में प्रचलित नहीं हैं। आदिग्रंथ में गूजरी और टोड़ी को स्वतंत्र रागों के रूप में स्थान दिया गया हैं; संभवतः 'गूजरी' से 'गूजरी टोड़ी' तथा केवल 'टोढ़ी' से 'मियाँ की टोड़ी' अर्थ लिया गया है, जैसा कि गुरुवाणी संगीत में इन रागों की स्वरलिपियों से भी व्यक्त होता है।

'वडहंस' और 'सारंग' भी आज संयुक्त रागनाम के रूप में ही प्रचलित हैं, किंतु आदिग्रंथ में उक्त दोनों राग पृथक् २ रागों के रूप में रखे गए हैं। गुरुवाणी संगीत में 'वडहंस' को खमाज थाटजन्य एवं सारंग को काफ़ीथाटजन्य राग मानकर दोनों रागों को स्वतंत्र रागों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'मारू' राग का नाम आज प्रचार में 'विहाग' से संयुक्त (मारू बिहाग) रूप में है, किंतु गु० सं० में 'मारू' की खमाज थाटजन्य एवं 'मारूबिहाग' को कल्याण थाटजन्य मानकर दोनों रागों का पृथक् पृथक् स्वरूप दिखाया गया है

'बैराड़ी' राग आज सुनने में नहीं आता। भातखंडे जी ने क्र० पु० मा० भाग ६ में 'बरारी' या 'वराटी' का वर्णन किया है, जिसे उन्होंने माखाकार का संपूर्णजाति का राग कहा है और इसमें टोड़ी, त्रिवेणी और देशाकार रागों का सम्मिश्रण बतलाया है। गु० सं० में 'बैराड़ी' राग का स्वरूप भातखंडे जी के उक्त 'बरारी' या 'वराटी' राग के स्वरूप के अनुरूप ही है, अतः भातखण्डे जी द्वारा वर्णित राग 'बरारी' या 'वराटी' आदिग्रंथ का राग 'बैराड़ी' कहा जा सकता है।

'तुखारी' राग का वर्णन अधुना प्रचार के आधार पर बने शास्त्रग्रंथों में नहीं मिलता, किंतु गु० सं० में यह राग 'टोड़ी' अंग का संपूर्णजाति का राग है और वहाँ इसका कोमल गंधार, दोनों मध्यम एवं दोनों निषादस्वरों से युक्त बड़ा रजक स्वरूप दिखाया गया हैं।

---

१. 'मोहन गुरुमत संगीतमाला' पृ० ८।

आ० ग्र० में ३१ रागों के अतिरिक्त अनेक मिश्रराग भी मिलते हैं।

गौड़ी राग आज अधिक प्रचलित नहीं है, किन्तु आ० ग्र० में गौड़ी-चेती, गौड़ी-पूरबी, गौड़ी-पूरबी दीपकी, गौड़ी बैरागणि, गौड़ी गुआरेरी, जगली गौड़ी, गौडी माझ, गौड़ी मालवा, तथा गौडी दखणी, ये ९ मिश्रण केवल गौरी राग में मिलते हैं।

उपर्युक्त सभी मिश्रण आज प्रचलन में नहीं हैं, किन्तु ये मिश्रण असम्भव नहीं हैं। गौड़ी-दखणी, गौड़ी राग का दखणी प्रकार कहा जा सकता है। तथा 'गौड़ी मालवा' से मालवार प्रदेश में प्रचलित गौडी का स्वरूप समझा जा सकता है।

गौड़ी बैरागणि तथा गौड़ी गुआरेरी राग सम्भवत पूर्ण रूप से लुप्त हो चुके हैं, इनका स्वरूप गु० स० में भी नहीं मिलता।

आ० ग्र० में 'काफी' का सूही, आसा, मारु और तिलग रागों के साथ मिश्रण मिलता है। 'काफी' शब्द ग्रन्थ में राग[1], छद[2] एव विशिष्ट गीतप्रकार[3], इन ३ रूपों में मिलता है।

'बसत' राग के साथ 'हिडोल' का मिश्रण (बसत-हिडोल) यद्यपि इस नाम से प्रचलित नहीं है, किंतु एक रजक रागरूप अवश्य बन सकता है। इसी प्रकार 'प्रभात विभास' का मिश्रण यद्यपि प्रचार में नहीं है, किंतु भैरव अगवाले विभास का प्रभाती के साथ मिश्रण सभव है। 'आसा' राग के अन्तर्गत 'आसावरी' का उल्लेख[4] आश्चर्यजनक है।

आ० ग्र० में म० ५ के कुछ पदों मे राग 'गौडी' के कुछ मिश्र राग घरु सख्याओं की अपेक्षा भिन्न में अक सख्याओं से एक विचित्र ढग से चिह्नित हैं, यथा,—राग गोड़ी$_1$ पूरबी, राग गौडी पूरबी$_1$, गौडी माझ$_1$, गौड़ी माझ$_3$, गौड़ी चेती$_1$, गौडी माला$_1$, गौडी२, गौडी पूरबी$_4$, आदि।

आ० ग्र० मे रागों के साथ १७ अक तक घरु सख्याओं का निर्देश मिलता है। यह 'घरु' शब्द ताल का पर्यायवाची समझा जाता है, किन्तु घरु सख्या के साथ 'पडताल' का उल्लेख देखकर, यह अर्थ ठीक नहीं बैठता। अत आ० ग्र० में हम राग को थाट की भाँति एक

---

१ द्रष्टव्य आ० ग्र० पृ० ४१८ आसाकाफी म० १ घरु ८।

२ वही, पृ० ७२६ तिलग म० ९ काफी।

३ वही, पृ० ९७६१ सूही म० ५ अष्टपदिया घरु १० काफी तथा पृ० ३६९ रागु आसा, घरु ८ के काफी$_2$ म० ४।

४ वहीं, पृ० ४०९ रागु आसा, म० ५ घरु १७, आसावरी तथा पृ० ३६९ 'रागु आसावरी घरु १६ के २ (पद २) म० ४ सुधग।'

व्यापक स्वरविधान मान सकते हैं और 'घरु संख्याओं' को उसके अंतर्गत अवान्तर विभाग माना जा सकता है। जिस प्रकार ग्रह, अंश, न्यास, मूर्छना एवं जातिभेद (औडुव-षाडवादि) से एक ही स्वरावली में से अनेक प्रकार के स्वर-संन्निवेश बनाए जा सकते हैं, उसी प्रकार 'घरु' को भी हम राग में वैशिष्ट्य लाने का एक प्रकार विशेष कह सकते हैं।

ताल के नाम से आ० ग्रं० में केवल 'पड़ताल' का ही उल्लेख मिलता है। किंतु गु० सं० में पउड़ी, दादरा, ढाईताल, रूपक, तलवाड़ा, मत्त, झप, सूलफ़ाक, भानमती या चारताल दी सवारी, जगपाल, चौताल, इकताला, जैताल, चंचल, आड़ा चौताला, धमार, फ़रोदस्त, सवारी पंजताल, तिंनताल, पंजाबी ठेका तिंनताल विल्लय, सिखर, खटवइंद्र आदि २४-२५ ताल मिलते हैं। इन तालों में खट तथा इंद्रताल जैसे १८ व १९ मात्राओं के लम्बे तालों के प्रयोग को देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि आज प्रचार में कंठसंगीत में १४ मात्राओं के धमार तथा झूमरा और १६ मात्राओं के तिलवाड़े से अधिक लम्बे ताल का प्रयोग अपवादस्वरूप हैं।

आ० ग्रं० में किंगरी, जंत्र, झांझ, ढोल, तूर, तंबूरा, दुंदुभि, दमामा, बीना, निसान, पखावज, मृदंग, भेरी, मंदला, मुरली, रबाब, वेणु, वीणा, सहनाई आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख ग्रंथकारों के संगीतज्ञान का परिचायक है। ग्रंथ में पदगायन हेतु शीर्षकरूप में 'एक सुआनु कै घरि गावणा', 'मानड़ीए कै घरि गावणा', 'रहोए के छंतां के घर', 'छंतां की जसि' आदि धुन-संबन्धी निर्देश भी ग्रंथ में संगीत की महत्ता के द्योतक हैं। २२ वारों में से ९ वारों पर भी विशिष्ट धुनों[1] का निर्देश मिलता है, जिनकी (मूल धुनों की) रक्षा एवं प्रचार की आज बहुत आवश्यकता है।

आ० ग्रं० में अंतिम पृष्ठ द्वय के साथ संलग्न 'रागमाला' नामक कृति भी इस सम्बन्ध में पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु यह रचना 'रागमाला' अथवा 'रागकदम्ब' नामक प्रबन्ध भेद न होकर राग रागिनी वर्गीकरण की परिचायिका है। 'रागमाला' पद में अनेक रागनाम श्लेषात्मक रूप में पद्यवद्ध रहते हैं, जहाँ जिस राग का नाम आता है, तदनुसार ही पदविशिष्ट को गाने का विधान रहता है, किंतु उक्त 'रागमाला' नामक कृति किसी गुरु अथवा भक्तकवि द्वारा प्रणीत न होकर हिंदी पुस्तक 'माधवानल कामकंदला' में से १० छंदों का प्रक्षेप है और मध्ययुग में संस्कृत के शास्त्रग्रंथों के प्रभाव से रागरागिनी वर्गीकरण के अत्यधिक प्रचार का परिणाम है।

---

१. 'मलकमुरीद तथा चंद्रहड़ा सोहिअे दी वार, राइ कमालदी मोजदी दी वार, लला बहिलीमा दी वार, हुंडे असराजे दी वार, सिकंदर बिराहिम दी वार, हसने महमे दी वार, मूसे दी वार, जोधो वीरे दी वार तथा राणा कैलाशदेव मालदे दी वार।

आ० ग्र० का यदि 'प्रबंधगान' की दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो इसमें स्तवमंजरी१, मातृकाप्रबंध२ तथा पंचतालेश्वर३ आदि अनेक प्रबंधभेद मिलते हैं।

संगीत का छंद से सुदृढ़ सम्बन्ध है। आ० ग्र० में इकतुके, दुतुके, तितुके, चौतुके, दुपदे, तिपदे, चौपदे, पंचपदे, छपदे, अष्टपदियाँ, सोलहे, सलोक, आदि छंदप्रकार तथा गीतिका, उल्लाला, उपमान या निशानी, सार, चौपई, अड़िल, छप्पय, दोहा, सोरठा, हाकलि, सीहर्फी आदि, सवैया छंद के वीर, बाण, सौम्य, इकफरा आदि प्रकार, पउड़ी छंद के दोहा रूप पउड़ी, चौपदी रूप पउड़ी, निशानी छंद रूप पउडी, सुगीता छंद रूप पउड़ी आदि अनेक छंद४ मिलते हैं। किंतु संगीत की प्रधानता के कारण ये छंद संगीत के नियमों से आबद्ध हैं, जैसे छंदबोध हेतु पदावली में आए राम, जीउ, मेरी जिंदड़ीए, प्यारिआ आदि शब्दों को छंद की सीमा से बाहर रखना होगा। ग्रंथ की भाषा में गायनोपयोगी शब्दयोजनानुकूल सभी गुणों का समावेश है।

इस प्रकार आ० ग्र० का संगीत की दृष्टि से अध्ययन बहुत आवश्यक है। इस ओर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हमने देखा की गत ४००-५०० वर्षों के कालान्तर में ग्रंथ के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर से हमारी उपेक्षा दृष्टि के कारण अनेक प्रचलित स्वतंत्र एवं मिश्र, रंजक राग५ अप्रचलित कोटि में चले गए, कुछ का संभवत नामांतर-रूपांतर६ हो गया और कुछ सर्वथा लुप्त७ हो गए। घर गायन, रागों से संलग्न ... उनकी विधा विशेष का मर्म और स्वरूप तथा तिलंग, सूही, मारू, आसा आदि रागों ... का गीत प्रकार विशेष के रूप में गायन आदि परंपराएँ आज लुप्तप्राय हो ... में भी आज इन विशिष्ट गायन परंपराओं के प्रति अनभिज्ञता देखी ...

आ० ग्र० का विद्वत्-समाज में अध्यात्म की दृष्टि ... संगीतपक्ष के प्रति अभी तक ग्रंथ श्रद्धालु विद्वानों में उदासीनता का ... संगीत

१ गुरु परब्रह्म आदि ... पद।
२ बावनअखरी,
३ पड़ताल, खट
४ द्रष्टव्य गुरुछ ... २१ से ४१
५ तुखारी, बैराड़ी, ... आदि।
६ बसंत हिंडोल, गू...
७ गउड़ी बैरागणि, ...

के साथ अंगांगिभाव से संबद्ध है तथा आ० ग्रं० के महान् प्रणेताओं ने ग्रंथ में उक्त दोनों विद्याओं के इस अभिन्न सम्बन्ध को अंगांगिरूप से प्रस्तुत भी किया है[1], अतः आ० ग्रं० का अध्ययन तभी सम्पूर्ण कहा जाएगा, जब संगीत की दृष्टि से भी ग्रंथ के गहन अध्ययन एवं परिशीलन को महत्त्व मिलेगा।

---

१. "रागांविच 'स्त्री' राग है, जे सचि धरे पिआरु।" (वार सिरी, राग, म० ३)।

अ. "'गउड़ी' राग सुलखणी जे खसमै चित्तकरेइ" (वार गउड़ी, म० ५)।

आ. "सवद रते 'वडहंसु' है सचु नामु उरि धारि" (वार वडहंस, म० ३)।

इ. "सोरठि सदा सुहागणी जे सचा मनि होइ" (वार सोरठि, म० ४ सलोकु म० १)।

ई. "धनासरी" धनवंती जाणीयै भाई जां सतिगुर की कार कमाइ" (सलोकवारां ते वचीक म० ३)।

उ. 'रामकली' रामु मनि वसिआ' (वार रामकली, म० ३)।

ऊ. "गुरुमुखि 'मलार' रागु जे करहि तीन तन्नु मनु सीतल होइ" (वार मलार, म० १ सलोक म० २)।

ए. "दूजै भांइ 'बिलावलु' न होवई, मनमुखि थाई न पाइ।" (वार बिलावलु, म० ३)।

वज्रयानी सिद्ध सरहपाद

छविराम यादव

सिद्ध साहित्य का समुचित अध्ययन आदिकाल के हिन्दी-साहित्य — सिद्ध, नाथ, और सन्त साहित्य — की विचार धारा को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। दुर्भाग्यवश आज सम्पूर्ण सिद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं है। विद्वानों ने विगत पाँच दशकों में कुछ मूल रचनाओं का उद्धार नेपाल आदि विभिन्न स्थानों से किया है। इन अल्प-उपलब्ध रचनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन रचनाओं में मध्यकालीन तान्त्रिक तथा योग साधना की प्रधानता है और इसकी धार्मिक भाव धारा, दार्शनिक शब्दावली और साधना प्रणाली परवर्ती नाथ और सन्त साहित्य में सहज ही देखी जा सकती है। सिद्धों की मूल अनुपलब्ध रचनाओं के प्रामाणिक अनुवाद तिब्बती ग्रन्थ तन्ज़ुर में संगृहीत हैं।

बौद्ध सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है, इस संख्या की पुष्टि भोट भाषा में लिखित ग्रन्थ ग्रुब थोब ब्र्ग्यद-चु चर्-द्शीड्-तोंगस् पडी-सूजीएपो-शेस ब्य ब अर्थात् चतुराशीतिसिद्ध सबोधिहृदय नाम (तिब्बती त्रिपिटक, खण्ड ६९, पृ० १३९-१४१) से हो जाती है। इस ग्रन्थ में चौरासी सिद्धों के नामों के साथ एक एक दोहा भी दिया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार सिद्धों का क्रम इस प्रकार है—लुइपा, गुरु लीलपा, विरूपा, डोम्बीपा, गुरु शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, गुरु मीनपा, गुरु गोरक्ष इत्यादि। इस सूची के अनुसार सरह छठे सिद्ध हैं। अन्य ग्रन्थ ग्रुब थोब ब्र्ग्यद् चर्-प्डीडी-लो-ग्युस अर्थात् चतुराशीतिसिद्धप्रवृत्ति (तिब्बती-त्रिपिटक खण्ड ८७, पृ० २०३) में चौरासी सिद्धों की जीवनियाँ दी गई हैं। इस कृति के अनुसार भी सरह का छठा स्थान है। इससे प्रमाणित होता है कि सिद्ध सरहपाद से लुइपा का ही अधिक महत्त्व था, क्योंकि सरहपाद के शिष्य लुइपा को प्रथम स्थान मिला है। कुछ विद्वान सरह को आदि सिद्ध मानते हैं। चक्रसंवर तन्त्र (दूपल ऽखोर्लो-बूदे मूछोग) में भी सरह को आदि सिद्ध माना गया है। ऐसा लगता है कि तिब्बत में सिद्धों के नाम मौखिक परंपरा के रूप में बहुत दिनों तक प्रचलित रहे, बाद में उनकी सूची तैयार की गई, फलस्वरूप क्रम में अंतर पड़ गया।

सिद्धों की जीवनी के सम्बन्ध में हमें कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। भोट भाषा में कुछ ऐतिहासिक तथ्यों के उल्लेख मात्र मिलते हैं, लेकिन इन तथ्यों में प्रामाणिक अंश कम ही हैं, कल्पित अधिक। 'चतुराशीतिसिद्धप्रवृत्ति' में सिद्धों की जो जीवनियाँ दी गई हैं वे प्रायः कल्पित-सी लगती हैं और सिद्धों का चमत्कार दिखाने के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में लिखी गई हैं। कदाचित् सिद्धों के काल के बहुत समय बाद सुनी-सुनाई मौखिक परम्परा के आधार पर ही ये जीवनियाँ लिखी गई होंगी।

सिद्ध सरहपाद की जीवनी के संबंध में भी यही स्थिति है। भारतीय भाषाओं में सामग्री की प्राप्ति के अभाव में हमें इनकी जीवनी के लिए भोट-भाषा के ग्रंथों में प्राप्त सामग्री ही एकमात्र साधन है। भोट-भाषा में अनूदित सरह की कृतियों में केवल उनके नाम-मात्र का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनके नाम में सर्वत्र एकरूपता नहीं दिखाई पड़ती। इस अनेकरूपता के कई कारण हो सकते हैं। ज्यों-ज्यों सिद्ध सरहपाद की प्रसिद्ध बढ़ती गई, त्यों त्यों उनके नाम के साथ सम्मानसूचक शब्द जोड़े जाने लगे। 'दोहाकोशगीति' जिसका मूलपाठ उपलब्ध है, के आधार पर कहा जा सकता है कि सरह की रचनाओं का तिब्बती भाषा में अनुवाद करते समय अनुवादकों ने सरह के नाम के साथ सम्मान सूचक शब्द जोड़ दिए हैं, क्योंकि 'दोहाकोशगीति' के अंत में लिखा है, 'कृतिरिंअ'-सरहपादाणां' (दोहाकोश रा० सां० पृ० ३४), लेकिन तिब्बती अनुवाद में 'द्बङ-फ्युग्-द्पल-सरह-पस्' अर्थात् योगीश्वर श्रीसरह कृत (तिब्बती त्रिपिटक, खण्ड ६८, पृ० २५८) मिलता है। सरह की सम्पूर्ण कृतियाँ मूल में उपलब्ध नहीं हैं। यदि उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ उपलब्ध होतीं तो मूल और अनुवाद में दिए गए नामों की तुलना कर किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचा जा सकता था। अनुवादक गयाधर ने सरहपाद को योगीश्वर की संज्ञा दी है, लेकिन उन्होंने ही सरह की एक अन्य कृति के अनुवाद के अंत में महाआचार्य सरह (तिब्बती त्रिपिटक, खण्ड ५८, पृ० १११) कहा है। ठीक इसी प्रकार के विशेषणों के प्रयोग प्रत्येक सिद्ध के लिए किए गए हैं। इससे इन सिद्धों के प्रति श्रद्धाभाव होने की सूचना मिलती है, श्रद्धा के कारण ही उनके नामों के साथ गौरव सूचक शब्द जोड़ दिए गए हैं। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि सरह की कृतियों के विभिन्न अनुवादकों ने विभिन्न प्रकार के सम्मानसूचक शब्दों के व्यवहार किए हैं। जैसे—गयाधर ने योगीश्वर महा-आचार्य सरह, पंडित वज्रपाणि और गुरु असु ने महा-योगीश्वर, महायोगी वैरोचन ने महायोगीश्वर श्री महाब्राह्मण, पंडित वैरोचनवज्र ने महासरह, गुरुकृष्ण ने द्वितीय बुद्ध के समान प्रसिद्ध महायोगीश्वर सरह, आचार्य कमलशील और स्वामी सिंहराज ने योगीश्वर श्री सरह, पंडित अमोघवज्र ने महापंडित सरह कहा है। कुछ रचनाओं के अंत में अनुवादकों के नाम नहीं मिलते, परन्तु सरह के नाम के साथ सम्मानसूचक शब्द जोड़ दिए गए मिलते हैं (तिब्बती त्रि० के विभिन्न खण्ड द्रष्टव्य)। हो सकता है कि सरह की कृतियाँ कबीर आदि की कृतियों के समान बहुत दिनों तक मौखिक परम्परा के रूप में प्रचलित रहीं और बाद में लिपिबद्ध की गईं हों। इस बीच की अवधि में सरहपाद के नाम के साथ सम्मानसूचक शब्द जुड़ गए होंगे, परन्तु सिद्ध सरहपाद संत कबीर की भाँति अंनपढ़ नहीं थे। सिद्ध सरह संस्कृत और अपभ्रंश दोनों भाषाओं के पंडित थे। इसके प्रमाणस्वरूप उनकी संस्कृत और

अपभ्रंश भाषा में लिखी गई रचनाएं मिलती हैं। दूसरी बात लक्ष्य करने की यह है कि सिद्ध सरहपाद के विचार क्रमबद्ध रूप से प्रत्येक कृति में व्यक्त हुए हैं, जबकि कबीर आदि संतों के विचार संकलित किए गए हैं, क्योंकि वे मौखिक परम्परा के रूप में चले आ रहे थे। तात्पर्य यह है कि सरहपाद की कृतियों का लिपिकरण स्वयं सरहपाद द्वारा ही किया गया होगा।

सिद्ध सरहपाद का चौरासी सिद्धों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सरह की कृतियों का अनुवाद करते समय यदि कोई एक ही अनुवादक उनके नाम के साथ गौरव या सम्मानसूचक शब्द जोड़ता तो माना जा सकता था कि गुरुभक्ति का निर्वाह करने के लिए ऐसा किया गया है, लेकिन जब सभी ने ऐसा किया है तो अवश्य ही सरह के प्रति आदर भाव रहा होगा। सरह काल के बहुत बाद उनकी कृतियों के अनुवाद हुए होंगे और उस समय तक वज्रयानी साधकों और अनुयायियों में सरहपाद की प्रतिभा और उनके महत्त्व का मूल्यांकन हो चुका होगा, इसलिए हो सकता है कि भारतीय विद्वानों ने ही सरह की कृतियों का अनुवाद करते समय उनके नाम के साथ सम्मानसूचक शब्द जोड़ दिए हों और उसी का अनुवादकों ने अनुसरण किया हो।

अनुवादकों में प्रसिद्ध विद्वान कमलशील, वैरोचन रक्षित, गयाधर आदि थे। सरह का समय निर्धारित करने के लिए इन अनुवादकों के समय का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि सरह का काल निर्धारित करने के लिए अन्य कोई प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती। अनुवादकों के नाम नितांत प्रामाणिक हैं, अवश्य ही सरहपाद इन अनुवादकों के पूर्ववर्ती थे। तिब्बत में तान्त्रिक बौद्ध धर्म का प्रचार सर्वप्रथम भारतीय पंडित कमलशील ने किया। कमलशील का समय ७८० ई० माना जाता है (टीबेटन बुद्धिस्टॉलोजी-शुकी योशीमुरा, पृ० ३)। कमलशील और प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्वा सांग में तर्क हुआ था (टीबे० बुद्धि० शुकी योशीमुरा, पृ० ९, बौद्ध-धर्म और बिहार—श्रीहवलदार त्रि०, पृ० २१३)। अतः कमलशील के समय ७८० ई० से पूर्व अथवा ठीक इसी के आसपास सरह का समय माना जा सकता है। शान्तिरक्षित ने तिब्बत में प्रथम संघाराम सम्‌ये महाविहार की स्थापना ७७६-८० ई० में की (दोहाकोश—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १२)। दार्शनिक आचार्य शान्तरक्षित ने सम्‌ये महाविहार की स्थापना के समय बारह भिक्षुओं के साथ वैरोचन रक्षित को भी तिब्बत बुलवाया था (बौद्ध-संस्कृति—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४०५)। आचार्य शान्तरक्षित कमलशील के गुरु थे अतः उनका भी समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। इसी आधार पर वैरोचन रक्षित का समय भी आठवीं शताब्दी मानना चाहिए। पंडित कमलशील ने सरहपाद की कृति 'महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति' का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया है (तिब्बती त्रि०, खण्ड ६९, पृ० २२१)। वैरोचन रक्षित ने सरहकृत 'दोहाकोशमहामुद्रोपदेश' का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया है। इस आधार पर

कहा जा सकता है कि सरहपाद पंडित कमलशील और वैरोचन रक्षित (७८० ई०) से पूर्व हुए थे। अनुवादक गयाधर दीपंकर श्रीज्ञान के विद्यागुरु सिद्ध अवधूतिपाद (मैत्रीपा) के शिष्य वैशाली निवासी थे। सरह की कृतियों की छान-बीन करते समय एक रचना 'श्रीसरहप्रभुमैत्रीपादप्रश्नोत्तर' मिली है। इस कृति में सरह से मैत्रीपा प्रश्न पूछते हैं और सरह उत्तर देते हैं। प्रकाशमुद्रा, महामुद्रा और मानस-मुद्राएं क्या हैं, इसी विषय पर प्रश्न किए गए हैं। जैसे :—

मैत्रीपा ने पूछा—'क्या मुद्रा दृष्टि महाशून्यता से संयुक्त है ? जिस वस्तु में ऐसी शून्यता संयुक्त है, उसका नाम क्या महामुद्रा है ?'

सरह ने उत्तर दिया—'हाँ वह धर्ममुद्रा कहलाती है, उसका असली नाम महामुद्रा नहीं है।' (तिब्बती त्रि० खण्ड ८७ ; पृ० १२२)।

इसके आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि सरहपाद और मैत्रीपाद समकालीन थे। राहुलजी ने मैत्रीपा को ग्यारहवीं शताब्दी का माना है लेकिन अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है (बौद्ध संस्कृति पृ० ४११)।

इसलिए यदि मैत्रीपाद सरहपाद के समकालीन थे तो उन्हें भी आठवीं शताब्दी का मानना उचित जान पड़ता है। इसी प्रकार अनुवादक गयाधर का समय भी आठवीं से नवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। इससे संभव लगता है कि सरहपाद लगभग आठवीं शताब्दी के मध्य वर्तमान थे। उनके इस समय को दो-चार दशक आगे-पीछे किया जा सकता है।

सिद्ध सरहपाद की जीवनी से संबंधित जो सामग्री अबतक उपलब्ध हुई है, वह भोट-भाषा के ग्रंथों पर आधारित है। भोट भाषा में चार ऐसी कृतियां मिली हैं, जिनसे सरह की जीवनी पर किंचित प्रकाश पड़ सकता है। उपलब्ध कृतियां हैं—

१—ग्रुब-थोब-बर्ग्यु द-च् -बूशोऽी-लो ग्र्यस (चतुराशीतिसिद्ध प्रवृत्ति)।

२—दपग-बसम-ल्जोन-बसङ् (कल्पवृक्ष आर्यदेश, महाचीन, तिब्बत, मंगोल में धर्म की उत्पत्ति) [प्रकाशित]।

३—छोस्-ऽब्युङ-बस्तन-पऽी-पद्म-र्ग्यस-पऽी-ञीन-ब्येद-चेस-ब्यब-ब.शुगस् - सो (धर्मोद्भव शास्त्र के कमल को प्रकाशित करने के लिए दिनकर)।

४—दम-पऽी-छोस्-रिनपोछे-ऽफगस-पऽी-युल-दु-जी-ल्तर-दर-बऽी -.छुल - ग्सल-बर-स्तोनप - द्गोस-ऽदोद्-कुन-ऽब्युङ-श.े स-ब्यब-ब्.शुगस-सो। (भारत में महायान बौद्धधर्म का धार्मिक और सामाजिक इतिहास)—लामा तारानाथ।

उपरिलिखित चारों कृतियों के आधार पर सरहपाद की जीवनी के संबंध में थोड़ी-बहुत

जानकारी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु यह जानकारी कितनी प्रामाणिक होगी और कितनी काल्पनिक इस पर विचार करना अत्यावश्यक है। सरहपाद के सम्बन्ध में प्राय सभी कृतियों में एक सा वर्णन कुछ परिवर्तनों के साथ मिलता है। वह इस प्रकार है—

गुरु सरहपाद का जन्म पूर्व-भारत के राज्ञी नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। राज्ञी नगरी के रोलीपा नामक स्थान मे राहुल-भद्र (सरह) पैदा हुए थे। ब्राह्मण होते हुए भी उनकी आस्था बौद्ध-धर्म में थी, इसलिए बौद्ध-आचार्यों द्वारा दिए गए उपदेशों को सुना करते थे। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म की ओर उनका झुकाव बढ़ता गया, और गुह्यमन्त्र में उनका विश्वास हो गया। वे दिन में ब्राह्मणों जैसा व्यवहार करते थे तथा रात मे बौद्धों जैसा आचरण। किसी दिन कन्याओं द्वारा दिया गया मद्य पान कर लिया। मदिरापान का समाचार ब्राह्मणों को मिलते ही विघटन शुरू हुआ। एकत्र हो कर सभी ब्राह्मण सम्राट रत्नपाल के पास अभियोग लेकर गए कि 'इस नीच ब्राह्मण को देश निष्कासन का दण्ड मिलना चाहिए।'

ब्राह्मणों ने सम्राट से कहा—'यदि आप सम्राट हैं और साम्राज्य को सुचारु ढग से नियन्त्रित करना चाहते हैं तो देश में किसी प्रकार की धार्मिक अव्यवस्था नहीं होनी चाहिए। शर-सचालक (मृदउ वृसनुन्) यह सरह रोलीपा नामक ग्राम जिसमें लगभग १५००० पुरवे हैं, का मुखिया है। इसने मदिरा पान कर अपने कुल को कलकित किया है। इसलिए इसे जाति से बहिष्कृत कर देना चाहिए।'

सम्राट रत्नपाल ने कहा—'पन्द्रह हजार व्यक्तियों पर शासन करने वाले व्यक्ति को सहज में ही निकालना ठीक नहीं है।'

राजा रत्नपाल ने स्वय सरह के पास जा कर कहा—'ब्राह्मण होकर तुम्हें मदिरापान करना उचित नहीं है।'

सरह ने उत्तर दिया—'यद्यपि मैं मदिरापान नहीं करता, तथापि अपनी परीक्षा दूंगा। आप ब्राह्मणों को एकत्र कीजिए।'

ब्राह्मणों के एकत्र हो जाने पर सरह ने कहा—'यदि मैंने शराब पी हो तो मेरा हाथ जल जाय और न पी हो तो न जले।'

इतना कह कर उसने उबलते हुए तेल मे अपना हाथ डाला, लेकिन उसका कुछ नहीं बिगडा।

सम्राट ने ब्राह्मणों से पूछा—'क्या इसने मदिरापान किया है?'

ब्राह्मणों ने कहा—'हाँ।'

सरह ने फिर पिघला हुआ ताँबा पी लिया। छ ब्राह्मणों के सम्मिलित भजन से भी सरह

अधिक भारी हो गए। अन्तिम परीक्षा के समय सरह एक ब्राह्मण के साथ पानी में उतरे। सरह पानी के ऊपर तैरते रह गए और ब्राह्मण डूब गया। इन कठिन परीक्षाओं के पश्चात् सम्राट ने सभी ब्राह्मणों से कहा—

'सरह की भांति शक्तिशाली व्यक्ति यदि मद्यपान भी करता हो तो उसे मना नहीं करना चाहिए।'

इसके बाद सम्राट के साथ ब्राह्मणों ने सरह को प्रणाम किया। सरह ने सबको उपदेश दिया और राजा-रानी तथा प्रजा को तीन दोहे सुनाए। दोहे सुनकर ब्राह्मणों ने अपना धर्म त्याग कर बौद्ध-धर्म अपनाया और सम्राट को सपरिवार सिद्धि मिली।

बाद में सरह एक पन्द्रह वर्षीया सेविका को लेकर अन्य किसी देश में चले गए। एक आश्रम में दोनों—सरह-सेविका (पति-पत्नी)—साधना करने लगे। पत्नी भोजन का प्रबंध कर उनके पास पहुंचा देती थी। एक दिन सरह को मूली को तरकारी खाने की इच्छा हुई। पत्नी ने मूली की तरकारी भैंस के दही में मिला कर तैयार की, परन्तु उस समय सरह बारह वर्ष की दीर्घ अवधि के लिए समाधि ले चुके थे। सरह ने समाधि से उठने पर पूछा—'मूली की तरकारी कहां है ?'

सेविका (पत्नी) ने उत्तर दिया 'आप तो बारह वर्ष तक समाधि में थे ; इस समय मूली की तरकारी कहाँ से लाऊं ? पुनः वसन्त आने पर मिल सकती है।'

सरह ने पत्नी से कहा—'अब मैं साधना करने के लिए पर्वत पर जाऊंगा।'

पत्नी ने उत्तर दिया—'जब तक हृदय से आश्रम में नहीं रहोगे, तब तक कुछ नहीं हो सकता। जो मन कल्प-विकल्प से आश्रम में रहता है, वही श्रेष्ठ आश्रमवासी है। आप बारह वर्षों तक समाधि में रहने के उपरान्त भी मूली खाने को छोटी-सो इच्छा का संकल्प नहीं त्याग सके तो पर्वत-शिखर पर जाकर कौन-सी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं ?'

सरह ने सोचा बात तो ठीक है। उन्होंने लक्षण-विकल्प त्याग गूजुग्-म (स्वभाव-अर्थ) की साधना कर महामुद्रा की परमसिद्धि प्राप्त की और जग-कल्याण के लिए बहुत-सा कार्य किया। अन्त में पति-पत्नी सदेह स्वर्ग गए (तिब्बती त्रि०, खण्ड ८७, पृ० १७७-७८)।

ऊपर जिस प्रकार की जीवनी दी गई है, ठीक इसो प्रकार की जीवनी थोड़े से परिवर्तन के साथ उपरिलिखित चारों ग्रंथों में प्राप्त होती है। इस जीवनी से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है ; कल्पना का सहारा अधिक लिया गया है। सरह नाम सभी ग्रंथों में मिलता है। द्पग्-ब्सम्-ल्जोन-ब्सङ में महाब्राह्मण राहुलभद्र मिलता है। परन्तु इसी ग्रंथ से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि सरह ने एक शर-संचालिका को अपनी

मुद्रा साधना का लक्ष्य बनाया था, फलस्वरूप इनका नाम सरहपाद पड़ा। हो सकता है कि इनका बचपन का नाम राहुलभद्र रहा हो, बाद में चल कर इनका नाम सरहपाद पड़ा।

सरहपाद जाति के ब्राह्मण थे और डाकिनी के पुत्र। इनके ब्राह्मण होने की बात सभी ग्रथों में कही गई है। सरह की रचना 'कराय दोहा नाम' (क राडी दोहाशें स्-व्यन ऽग्रुगस्-सो) के अन्त में भी महायोगेश्वर महाब्राह्मण सरह कहा गया है (तिब्बती नि० खण्ड ६९, पृ० ९९)। इन उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि सरहपाद जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु बाद में चल कर बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गए। इसके लिए हम 'दोहाकोश गीति' के प्रथम अश को देख सकते हैं। सरहपाद ने इस कृति में ब्राह्मणों, शैवों और जैनों की घोर निन्दा की है तथा बौद्धों की प्रशसा। जैसे—

ब्रह्मणे हि म जानन्तहि भेउ। एवउ पढियउ ए च्चउवेउ।

मट्टि (पाणि कुस लई पढन्त। घरहीं बइसी) अग्गि हुणन्त ॥ दो० १ ॥

और साथ ही बौद्धों की प्रशसा करते हैं —

चेल्लु भिक्खु जे स्थविर उएसे। (ब न्देहिअ पव्वज्जिउ वेसे ॥

कोई सुत्त त बक्खाण बइट्ठो। कोवि) चित्त कहअ मइ दिट्ठो ॥ दो० १० ॥

अपने ग्रन्थों में सर्वत्र सरहपाद ने तान्त्रिक बौद्ध साधना प्रणाली का वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि सरहपाद बाद में बौद्ध हो गए थे।

सरहपाद के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में तिब्बती ग्रथों में मिलता है कि उनका जन्म पूर्व भारत के राज्ञी नामक स्थान में हुआ था। राज्ञी नामक कोई स्थान पूर्व भारत में था या नहीं, यह विवादास्पद है। राहुल साकृत्यायन ने अनुमान से राज्ञी को भागलपुर के आसपास माना है (दोहाकोश पृ० १०)। भोट कृति छोस्-ऽब्युङ्-चुस्तन्-पऽो-पद्म र्दस पडी नीन् ब्येद्-चेस्-ब्यव-बज्ञुगस्-सो (धर्मोद्भव शास्त्र के कमल को प्रकाशित करने के लिए दिनकर) में सगृहीत 'आचार्य सरह का वृत्तात' में लिखा है कि 'मगध के पूर्व वाराणसी के सोनाघाटी नामक स्थान में एक ब्राह्मण के घर सरह का जन्म हुआ था।' वाराणसी मगध के पश्चिम में है, पूर्व में नहीं, इसलिए यह वृत्तात भ्रामक प्रतीत होता है। लामा तारानाथ की कृति में राहुल भद्र का जन्मस्थान ओडिविसा (उड़ीसा) बताया गया है, परन्तु तारानाथ कग्युर और तग्युर की रचना (सग्रह) के बहुत बाद हुए और उन्होंने जनश्रुति के आधार पर इतिहास लिखा, फलस्वरूप बहुत सारी त्रुटिया उसमें आ गई हैं। हो सकता है सिद्ध सरहपाद ने साधना करते हुए कुछ दिन उडीसा में बिताए हों, इसलिए कुछ लोगों ने उन्हें उडीसा का ही मान लिया है। प्राचीनतम भोट कृतियों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि सरहपाद का जन्म पूर्व भारत में हुआ

था और उस स्थान में बौद्ध-मतानुयायियों का प्राधान्य था। वहाँ दिन-रात बौद्ध-धर्म की चर्चा होती थी, फलस्वरूप सरह उससे प्रभावित हुए। आठवीं शताब्दी में नालन्दा महाविहार बौद्ध-धर्म की चर्चा का प्रधान केन्द्र था। सरहपाद का जन्म-स्थान नालन्दा के आसपास माना जा सकता है।

'चतुराशीतिसिद्धप्रवृत्ति' में सरह की जीवनी के अन्तर्गत सम्राट रत्नपाल का नाम मिलता है। आठवीं शताब्दी में रत्नपाल नाम का कोई सम्राट पाल या अन्य किसी राजवंश में नहीं हुआ था। रत्नपाल नामक एक राजा ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आसाम में हुआ था जो ब्रह्मपाल का पुत्र था परन्तु सरहपाद को आठवीं शताब्दी का प्रामाणिक किया जा चुका है। उपरिलिखित कृति के लेखक ने मौखिक परम्परा के आधार पर इतिहास लिखते समय बहुत सारे नामों का उल्लेख किया है, जो विभिन्न सिद्धों की जीवनियों में हैं, परन्तु अप्रामाणिक हैं। आठवीं शताब्दी में धर्मपाल नामक बौद्ध सम्राट बहुत ही प्रतापशाली था और संभवतः धर्मपाल ही सरह का समकालीन था। राहुल सांकृत्यायन ने भी सरह को धर्मपाल का समकालीन माना है (दोहाकोश, पृ० १२)।

सरह ने अपनी महामुद्रा की साधना को सफल बनाने के लिए एक युवती नारी को लक्ष्य बनाया था और वह शर-बनाने वाली थी, फलस्वरूप इनका नाम भी राहुलभद्र के स्थान पर सरह पड़ा। बौद्ध तांत्रिक साधना में आध्यात्मिक अर्थ में मद्य-मांस और नारी के सेवन का सर्वत्र उल्लेख मिलता है। सरह की जीवनी में मद्य और नारी सेवन का उल्लेख सर्वत्र हुआ है।

द्पग्-ब्सम्-ल्जोन्-बसङ् (कल्पवृक्ष) में सरह के गुरु का उल्लेख करते हुए इतिहासकार ने लिखा है कि 'ब्राह्मण राहुलभद्र ने ओडविस्सा (उड़ीसा) के राजा छोबेसकल्प से वज्रयान की दीक्षा लेकर दक्षिण में मरहठी क्षेत्र की योगिनी शर-संचालिका के साथ मुद्रा-साधना की (पृ० ८५)। परन्तु लामा तारानाथ के इतिहास से प्रमाणित होता है कि सरहपाद के गुरु अश्वघोष थे (पृ० १०)। राहुल सांकृत्यायन ने सरह को हरिभद्र का शिष्य माना है (पृ० १२)। अश्वघोष, वसुमित्र, पार्श्व, नागार्जुन आदि अनेक उद्भट बौद्ध दार्शनिक कनिष्क की सभा में विराजमान थे। नागार्जुन राहुलभद्र के शिष्य थे; इसका उल्लेख तिब्बती ग्रंथों में मिलता है।

सरहपाद के प्रतिभाशाली शिष्य नागार्जुन का सर्वत्र उल्लेख हुआ है। सरहपाद नालन्दा महाविहार के आचार्य थे, बाद में नालन्दा का सम्पूर्ण भार नागार्जुन को सौंपकर योगिनी (चंडालिनी) के साथ रहने लगे।

सरहपाद की जीवनी में आलौकिक चमत्कारों के जो वर्णन मिलते हैं वे उनके सिद्ध व्यक्तित्व के अनुरूप ही हैं, उनमें ऐतिहासिक सत्य की खोज करना व्यर्थ है।

सरहपाद का साधना क्षेत्र श्रीपर्वत तथा कर्म क्षेत्र नालन्दा महाविहार था। सरहपाद शिक्षित विद्वान थे अत उन्होंने संस्कृत और भाषा (अपभ्रंश) दोनों मे रचनाए की हैं। उनकी रचनाए निम्नलिखित हैं —

१ श्रीबुद्धकपाल साधन, २ सर्वभूतबलिविधि, ३-श्रीबुद्धकपालनाममण्डलविधिक्रमप्रद्योतन, ४ दोहाकोशगीति, ५ दोहाकोश नाम चर्यागीति, ६-दोहाकोश उपदेशगीति नाम, ७ कखस्य दोहा नाम, ८ कायकोश अमृतवज्रगीता, ९ वाक्कोशरुचिरस्वरवज्रगीता, १०-चित्तकोश अजवज्रगीता, ११ कायवाक्चित्तमनसिकारनाम, १२ दोहाकोश नाम महामुद्रोपदेश, १३-द्वादशोपदेशगाथा, १४-स्वाधिष्ठानक्रम, १५ तत्त्वोपदेशशिखर दोहागीति नाम, १६-भावनादृष्टि चर्याफलदोहाकोशगीतिका नाम, १७ वसन्ततिलक दोहाकोष गीतिका नाम, १८ सरहगीतिका (७ ब ३), १९-सारहगीतिका, (७ ब ८ अ) २० महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति, २१-त्रैलोक्यवशंकरावलोकितेश्वर साधन, २२-त्रैलोक्य-वशंकरलोकेश्वर साधन, २३ त्रैलोक्यवशंकर लोकेश्वर साधन, २४ त्रैलोक्यवशंकर लोकेश्वर साधन, २५-अधिष्ठान महाकाल साधन नाम, २६ महाकाल स्तोत्र, २७ श्रीवज्रयोगिनी साधन, २८-श्रीसरहप्रभुमैत्रीपाद प्रश्नोत्तर (?) २९ श्रीबुद्धकपालतन्त्रस्य पंजिका ज्ञानवती नाम।

टिप्पणी—१ कखस्यदोहा टिप्पण।

संदिग्ध रचनाएँ — १-चित्तमात्र दृष्टि नाम, २ योगसंक्षेप, ३ डाकिनीवज्रगुह्यगीति, (इसके अंत में सरह का नाम मिलता है), ४ मर्मोपदेश, ५ व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि, ६-त्रैलोक्यव-वशंकरलोकेश्वर साधन।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त कुछ गीतियाँ और दोहे तान्जुर मे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उपरिलिखित रचनाओं मे 'दोहाकोशगीति', 'त्रैलोक्यवशंकरावलोकितेश्वर साधन', और 'त्रैलोक्यवशंकर लोकेश्वर नाम' तीन कृतियाँ मूल रूप मे उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पद तथा संस्कृत श्लोक भी मिलते हैं।

सरहपाद की सभी कृतियाँ मूल रूप मे उपलब्ध नहीं है, उनके भोट अनुवाद उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि सरहपाद महान् सिद्ध थे। उन्होंने तान्त्रिक साधना प्रणाली की व्याख्या अपने ग्रंथों में सुव्यवस्थित ढंग से की है, जिसकी चर्चा फिर करेंगे।

प्राचीन भारतीय काव्य समीक्षकों की दृष्टि में कविसमय

देवनाथ चतुर्वेदी

मानव मात्र का अपने अतीत के प्रति अटूट अनुराग होता है। वह अतीत से चली आ रही परम्पराओं को भरसक छोड़ता नहीं। सामाजिक जीवन में ऐसी अनेक अनावश्यक परम्पराएं चलती रहती हैं, जिनका वर्त्तमान में कोई मूल्य नहीं रहता फिर भी उनके प्रति जन-मन में अपार निष्ठा होती है। प्रारम्भ में वे परम्परा के रूप में वर्त्तमान रहती हैं और कालान्तर में, वे ही नियम, संस्कार तथा रूढ़ि में रूपान्तरित हो जाती हैं। और मानव-संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाती हैं। इस प्रकार की परम्पराएं या रूढ़ियाँ मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष में परिलक्षित होती हैं। सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इनका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। समय-समय पर इन प्राचीन परम्पराओं एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा आन्दोलन भी किये जाते हैं, फिर भी इनकी सत्ता बनी ही रहती है। किसी समाज में प्रचलित इन परम्पराओं तथा रूढ़ियों के माध्यम से उसकी सभ्यता संस्कृति, धर्म एवं साहित्य की प्राचीनता और समृद्धि का मूल्यांकन किया जा सकता है। यहाँ काव्य में प्रचलित परम्पराओं या रूढ़ियों (काव्यरूढ़ियों) पर विचार किया गया है।

काव्य में प्रचलित परम्पराओं या रूढ़ियों के लिए काव्यसमीक्षकों ने विभिन्न नामों का उल्लेख किया है। यथा—काव्यसमय, कवि समय, कवि प्रसिद्धि, तथा काव्यरूढ़ि आदि। नामों को इन विभिन्नताओं में भी सर्वत्र एकता ही दृष्टिगत होती है, क्योंकि प्रायः सभी नामों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है।

उपलब्ध काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र प्राचीनतम शास्त्रीय ग्रन्थ है। यद्यपि इसके काल के संबंध में सभी विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं, तथापि इसकी प्राचीनता सभी ने स्वीकार की है। भरत मुनि के बाद दो आचार्यों का नाम आता है, भामह और दण्डी। इन दोनों आचार्यों के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में बहुत विवाद है। बहुमत भामह को ही प्राचीन मानने के पक्ष में है। भामह का उपलब्ध ग्रंथ काव्यालङ्कार है। इस ग्रंथ में कवि शिक्षा का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। एक कवि के लिए व्याकरण, छन्द, कोशअर्थ, इतिहासाश्रित कथायें लोक व्यवहार, तर्कशास्त्र, और चौंसठ कलाओं का ज्ञान होना आवश्यक है (काव्यालंकार—प्रथम परिच्छेद, श्लोक-९, १०) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह के समय में भी काव्य जगत् में कुछ परम्पराएं प्रचलित थीं जिनका ज्ञान कवियों के लिए आवश्यक माना जाता था। भामह के उपर्युक्त कथन से यही ध्वनित होता है कि वर्तमान कविसमय या कविप्रसिद्धि का मूल उन्हीं परम्पराओं में है।

आचार्य दण्डी (६६० ६८० ई०) भी भामह के समकालीन ही थे। दण्डी ने काव्यादर्श में कवि समय का स्पष्ट उल्लेख किया है। इसकी चर्चा काव्यदोष वर्णन के प्रसग में की गई है। देश, काल, कला, लोकन्याय, सस्मृनिवेद, एव शैवाद्यागम शास्त्रों में अप्रसिद्ध वस्तु का यदि कवि असावधानी के कारण वर्णन करता है तो उसे देश, कालादि विरुद्ध दोष मानना चाहिए (काव्यादर्श—तृतीय परिच्छेद, श्लोक—१६२, १६३, १६४)। जो परम्परा से मान्य है और एक निश्चित अर्थ मे रूढ़ हो गया है, काव्य मे उसके विपरीत वर्णन दोष माना जायेगा। दण्डी के इस सिद्धान्त में कविसमय स्पष्ट ध्वनित होता है। यथा—कर्पूर पादपामर्श सुरभिर्मलयानिल। कलिङ्ग वन सम्भूता मृगप्राया मतङ्गजा॥ काव्यादर्श, ३ १६५। अर्थात् मलयानिल का कर्पूर वृक्ष के स्पर्श से सुगन्धित होना, तथा कलिङ्ग के वन में हाथी का प्राप्त होना वर्णन किया जाय तो काव्य दोष माना जायेगा, क्योंकि काव्य तथा लोक में मलयानिल का चन्दन के वृक्ष से स्पर्श करना और सिहल के वनो मे हाथी का प्राप्त होना विख्यात है। जिन कविसमयों का उल्लेख दण्डी ने काव्य दोष के विवेचन के प्रसग में किया है, उन्होंने हो राजशेखर तक आते आते कविसमय के सैद्धान्तिक रूप को ग्रहण कर लिया है। राजशेखर ने कविसमय के विवेचन के प्रसग मे इसको ठीक उसी अर्थ मे स्वीकार किया है जैसा कि दण्डी ने किया है, यथा—द्रव्यनियमस्तद्यथा। मलय एव चन्दनस्थान, हिमवानेव भूर्जोत्पत्तिस्थानम्। (काव्य मीमासा—अध्याय १४)।

काल विरोध दोष के माध्यम से दण्डी ने दूसरे कविसमय का समर्थन किया है। यथा—पद्मिनीनक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती। मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघ दुर्दिन॥ (काव्यादर्श—३ १६७) अर्थात् पद्मिनी का रात्रि मे प्रफुल्लित होना तथा कुमुदिनी का दिन मे, वसन्त में बेंत (निचुल) का फूलना तथा ग्रीष्म में मेघाच्छन्न आकाश का वर्णन करना। लोक तथा काव्य में प्रचलित है कि कमलिनी दिन में खिलती है और कुमुदिनी रात में। निचुल में पुष्पोद्गम वर्षाऋतु में, मेघाच्छन्न आकाश पावस में ही रहता है।

आचार्य विश्वनाथ महापात्र ने भी दण्डी के ही मत का प्रतिपादन किया है। साहित्य दर्पण के सप्तम परिच्छेद में काव्य दोषों के प्रसग मे इसका उल्लेख किया गया है। यहाँ कवि समय के विरुद्ध किये जाने वाले वर्णनों को प्रसिद्धि त्याग नामक दोष माना गया है और इस सिद्धात को कवि समय के अन्तर्गत रखा गया है यथा—

अह्न्यम्भोज, निशाया विकसति कुमुद, चन्द्रिका शुक्ल पक्षे मेघध्वानेषु नृत्य भवति च शिखिना नाप्यशोके फल स्यात्॥ साहित्य दर्पण, ७, २५।

अर्थात् दिन में कमल का प्रफुल्लित होना, रात्रि में कुमुदिनी का विकसित होना, चन्द्रिका का शुक्ल पक्ष में ही वर्णन करना, मेघ गर्जन के समय ही मयूरों के नृत्य का वर्णन करना तथा अशोक वृक्ष में फल न होने का वर्णन करना ही कविसमय के अनुसार मान्य है, इसके विरुद्ध वर्णन करना ही दोष है। दण्डी के काल-विरोध सम्बन्धी उदाहरण को भी कविसमय के ही अन्तर्गत् रखा जा सकता है। यथा—

श्रव्य हंस गिरो वर्षा शरदो मत्तवर्हिणः।
हेमन्तो निर्मलादित्यः शिशिरः श्लाघ्य चन्दनः॥ (काव्यादर्श ३।१६८।)

अर्थात् वर्षाऋतु में हंसध्वनि का वर्णन, शरद ऋतु में मयूर की प्रसन्नता (नृत्य) और उन्मत्तता का वर्णन, हेमन्त में सूर्यातप तथा शिशिर ऋतु में चन्दन के लेप को सुखप्रद वर्णन करना। उपर्युक्त बातों को दोष मानने का एक मात्र कारण परम्परानुमोदन है क्योंकि हंस ध्वनि का वर्णन शरद में, मयूरों की प्रसन्नता का वर्णन वर्षा में, चन्दन की शीतलता का सुखप्रद होना ग्रीष्म में ही प्रसिद्ध है। परवर्ती आचार्यों ने इसको ठीक इसी रूप में स्वीकार कर लिया है और इसे कविसमय के अन्तर्गत् रखा है। केशव मिश्र ने भी इसका उल्लेख कविसमय के नाम से ही किया है (अलंकार शेखर—षष्ठरत्न, द्वितीय मरीचि)। दण्डी ने अन्त में इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है। कवि प्रतिभा के कारण उपर्युक्त दोष भी गुण बन जाते हैं यथा—

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कवि कौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते॥ (काव्यादर्श ३।१७९।)

कवि समय के मूल में भी यही सत्य है। काव्य में सौन्दर्य एवं चमत्कार की अभिवृद्धि करने के उद्देश्य से ही कवियों ने समय एवं स्थान को ध्यान में रखते हुए सत्य का अनिबन्धन तथा असत्य का निबन्धन स्वीकार कर कविसमय की स्थापना की।

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबन्धन्ति कवयः स कविसमयः॥ (काव्य-मीमांसा—अ० १४)।

आचार्य दण्डी के बाद आठवीं शताब्दी में आचार्य वामन का आविर्भाव हुआ। आप रीति सम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों में प्रमुख हैं। वामन ने अपनी कृति अलङ्कारसूत्रवृत्ति के पाँचवें अधिकरण में काव्य में शब्द प्रयोग पर विचार किया है और बताया है कि व्याकरण की परम्परानुसार किसी शब्द विशेष का प्रयोग किस रूप में तथा किस स्थान पर होना चाहिए।

इसके विपरीत जाने वाले कवि की रचना दोषयुक्त मानी जायेगी। इस नियम विशेष को 'काव्यसमय' संज्ञा दी गई है। इस नियम के उल्लेख के सन्दर्भ में वामन ने काव्य में प्रयोग होने वाली व्याकरण सम्बन्धी परम्पराओं एवं रूढ़ियों का विवेचन किया है। काव्यसमय का यह संकेत कदाचित् वामन ने ही प्रथम बार किया है क्योंकि इसके पूर्व या परवर्ती काव्य शास्त्रों में काव्यसमय का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से अग्निपुराण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक विवादों के उपरान्त इसका निर्माण काल १० वीं शताब्दी माना गया है। यह भी सर्वमान्य नहीं है। अग्निपुराण में ३३८ अध्याय से लेकर ३४७ अध्याय तक काव्यशास्त्रीय विषयों का उल्लेख किया गया है। काव्य में ग्राम्य प्रयोगों को दोष माना गया है किन्तु वे ग्राम्य प्रयोग दोष युक्त नहीं होंगे जो लोक, शास्त्र तथा कविसमुदाय में प्रसिद्ध हैं। कविसमुदायानुमोदित् प्रयोग लोक तथा शास्त्र विरुद्ध होने पर भी सदोष नहीं होता—

> दुःखा करोति दोषं ज्ञान्मूढार्थत्व न दुष्करे।
> न ग्राम्यतोद्वेगकारी प्रसिद्धेर्लोकशास्त्रयो ॥ (अग्निपुराण)

कविसमय की व्याख्या करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि "कवीना समुदाचार समयो नाम गीयते" अर्थात् कवियों के समुदाचार को ही कविसमय कहते हैं। कविसमय के दो भेद किये गये हैं—(१) सामान्य, (२) विशेष। सकल सैद्धान्तिकों तथा कवियों के विवाद के परिणामस्वरूप जो प्रसिद्ध होता है उसे सामान्य कविसमय या कवि ख्याति कहते हैं।

> सिद्ध सैद्धान्तिकानाञ्च कवीनाञ्च विवादत ।
> य प्रसिद्धति सामान्य इत्यसौ समयो मत ॥ (अग्निपुराण)

काव्यजगत् में जो नियम परस्पर व्यवहार तथा काव्याचार द्वारा निर्मित होता है उसे विशिष्ट समय कहा गया है।

> अस्मिन् सरस्वतीं लोके सञ्चरन्त परस्परम्।
> बध्नन्ति व्यति पश्यन्ति यद्विशिष्ट स उच्यते ॥ (अग्निपुराण)

कविसमय का शास्त्रीय एवं क्रमबद्ध विवेचन करने वाले यायावरीय राजशेखर का समय १० वीं शताब्दी माना गया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कविसमय की मीमांसा १४, १५, तथा १६वे अध्याय में की है। इसके पूर्व कविसमय के उल्लेख विभिन्न रूपों में

विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों में बिखरे हुए मिलते हैं। काव्यमीमांसा में इसको संयत एवं सैद्धान्तिक रूप दिया गया है। इस बात की पुष्टि के लिए राजशेखर का यह कथन उपयुक्त होगा।

सोऽयं कवीनां समयः काव्ये सुप्त इव स्थितः।
स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथा बुद्धिविबोधितः। (काव्यमीमांसा अ० १६)

अर्थात् राजशेखर के पूर्व यह कविसमय सुषुप्तावस्था में था और यायावरीय ने काव्यमीमांसा की रचना करके उसे जगाया। सुषुप्तावस्था से तात्पर्य है कि इसके पूर्व कविसमय का काव्य में उल्लेख होने पर भी शास्त्रीय ग्रंथों में केवल संकेतात्मक विवेचन मिलता है ; जो इसके महत्त्व को देखते हुए पर्याप्त नहीं है।

कविसमय से राजशेखर का तात्पर्य उस सिद्धान्त या नियम से है जो कवि समाज में परम्परा से व्यवहृत होता चला आ रहा हो। यथा—

"अशास्त्रीयंमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबन्धन्ति कवयः स कविसमयः।" (काव्य-मीमांसा अध्याय १४।)

अर्थात् जो अशास्त्रीय तथा अलौकिक होने पर भी परम्परा से कवि समाज में प्रचलित हो, ऐसे प्रयोग को कविसमय कहते हैं। दूसरी ओर आचार्यों ने अशास्त्रीय तथा अलौकिक प्रयोग को काव्य-दोष भी माना है। इसका समाधान यायावरीय राजशेखर के इस कथन से होता है कि वेद शास्त्र अनन्त हैं, संसार विचित्रताओं एवं विभिन्नताओं से परिपूर्ण है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसका भलीभांति अध्ययन तथा मनन करके और देश देशान्तर का भ्रमण करके जो अनुभव प्राप्त किया उसी के आधार पर इन नियमों का निर्धारण किया गया। इस लिए इनको दोष पूर्ण या असत्य कहना अनुपयुक्त होगा (काव्यमीमांसा अध्याय १४)। राजशेखर के अनुसार कविसमय के मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) स्वर्ग्य, (२) भौम, (३) पातालीय, इन तीनों भेदों के अनेक उपभेद किये गये हैं। भौम कविसमयों का अध्ययन सबसे विस्तृत है क्योंकि इसका क्षेत्र अन्य भेदों से अधिक व्यापक है। भौम के भेद अधिक हैं :—जातिरूप, द्रव्यरूप, क्रियारूप तथा गुणरूप। इनमें से प्रत्येक को फिर तीन भागों में विभाजित किया गया है ; असत् का निबन्धन, सत् का अनिबन्धन तथा नियम आदि।

स्वर्ग्य

काव्य में प्रयुक्त स्वर्गीय वस्तुओं से सम्बन्धित जिन कविसमयों की स्थापना की गई है उन्हें स्वर्ग्य कविसमय कहा गया है। यथा—चन्द्रमा में स्थित काले धब्बे को कहीं हरिण तथा कहीं शशक के रूप में वर्णित किया गया है। कविसमय के अनुसार हरिण और शशक भिन्न होते हुए भी समान मान लिए गये हैं। इसीलिए चन्द्रमा को काव्य में मृगाङ्क और शशाङ्क दोनों कहा जाता है।

विशेषस्तु चन्द्रमसि शशहरिणयोरैक्यम्। (काव्य मीमांसा, अध्याय १६)

काव्य में मकरध्वज तथा मीनकेतन दोनों नामों से कामदेव का उल्लेख किया गया है। कविसमय में कामदेव के सम्बन्ध में प्रयुक्त मकर और मीन (मत्स्य) में कोई भेद नहीं माना जाता है।

कामकेतने मकरमत्स्ययोरैक्यम्। (का० मी० अ० १६)

पुराणों में चन्द्रमा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की कथायें प्रचलित हैं। कहीं अत्रिऋषि के नेत्र से चन्द्रमा की उत्पत्ति स्वीकार की गई है तो कहीं समुद्र से। कविसमय के अन्तर्गत चन्द्रमा के दोनों उत्पत्ति स्थानों को एक ही मान लिया गया है। अर्थात् दोनों को समान मान्यता प्राप्त हो गई है।

अत्रिनेत्रसमुद्रोत्पन्न चन्द्रयोरैक्यम्। (का० मी० अ० १६)

आकाश मण्डल में उदित होने वाला चन्द्रमा सदा घटता बढ़ता रहता है लेकिन शिवजी के भाल पर शोभित चन्द्रमा को सदा द्वितीया का ही चन्द्रमा कहा जाता है। अनन्त काल से भालस्थित चन्द्रमा में कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ।

बहुकाल जन्मनोरपि शिवचन्द्रमसोर्बालत्वम्। (का० मी०, अ० १६)

प्रसिद्ध है कि शंकर ने तीसरे नेत्र के तेज से कामदेव को भस्म कर दिया था। तभी से कामदेव अनङ्ग हो गया क्योंकि जलने के बाद उसका पार्थिव शरीर नष्ट हो गया लेकिन काव्य में प्रसंगानुकूल कामदेव का चित्रण मूर्तरूप में ही होता है। शरीरहीन कामदेव का मूर्त रूप में चित्रण ही कविसमय है, कामस्य मूर्तत्वं च (का० मी० अ० १६)।

पुराणों में द्वादशादित्यों का उल्लेख मिलता है लेकिन काव्यजगत् में कवियों ने एक ही सूर्य का वर्णन किया है। यह भी कविसमय है ; द्वादशानामप्यादित्यानामैक्यम् (का० मी० अ० १६)।

कवि सम्प्रदाय के अनुसार नारायण और माधव को अभिन्न माना जाता है। इसी प्रकार दामोदर, शेष, कूर्म आदि में भी एकता समझनी चाहिए। कमला और सम्पत्ति का एकता भी मान्य है।

यायावरीय के कविसमय के इस विवेचन से काव्य की बहुत सी गुत्थियाँ सुलझ गईं। इस क्रमबद्ध विवेचन से कवियों तथा काव्यरसिकों का मार्ग सरल हो गया। स्वर्ग्य कविसमय बहुत व्यापक न होते हुए भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

भौम कविसमय

भौम कविसमय का विवेचन राजशेखर ने विस्तार से किया है। लौकिक पदार्थों से सम्बन्धित कवि समय को भौम कविसमय कहते हैं। इसको कई उपयुक्त उपभागों में विभाजित किया गया है। यथा :—

जातिगत असत् का निबन्धन :—

जिन पदार्थों का न तो शास्त्रों में उल्लेख हो, न लोक में ही देखे सुने गये हों, उनका काव्य में सत्य की भांति उल्लेख करना ही कविसमय है।

यथा—नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हंसादयो, यत्र तत्र पर्वतेषुसुवर्णरत्नादिकं च (का० मी० अ० १४)।

अर्थात् नदी के प्रवाहित जल में कमल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है तथापि काव्य में वर्णन मिलता है। जलाशय मात्र में हंस की उपस्थिति असम्भव होते हुए भी संभव है। इस प्रकार असत्य का सत्य के रूप में वर्णन ही कविसमय है यथा—

कमला अराण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
के णांव गाम तडाए अब्भं उत्ताणअं व्वूढ़ं॥ गाथासप्तशती, द्वि० स०

यहाँ कवि ने गाँव के एक सामान्य तालाब में हंस और कमल का उल्लेख किया है ; जब कि गाँव के तालाब में हंस नहीं रहते।

इसी प्रकार कवियों द्वारा पवन मात्र में स्वर्ण प्राप्त होने का वर्णन करना भी असत्य है। इस असत्य का सत्य की भाति चित्रण करना भी कविसमय है। यथा—

ती देवदारूत्तम गन्धवन्त नदी सर प्रस्रवणौघवन्त ।
आजग्मतु काञ्चन धातुमन्त देवर्षिमन्तहिमवन्तमाशु ॥ (सौन्दरनन्द, दशम सर्ग)

उपर्युक्त उदाहरण में हिमालय को स्वर्णादि रत्नों से परिपूर्ण कहा गया है।

जातिगत सन् का अनियन्धन (सतोऽप्यनिबन्धन) —

लोक एव शास्त्र विहित बहुत से पदार्थों का काव्य में उल्लेख करने का निषेध किया गया है। इस तरह इस कविसमय के अनुसार वास्तविकता का उल्लेख न करने का विधान है। यथा—भवति हृदय हारी कोपि कस्यापि हेतु

न खलु गुण विशेष प्रेमबन्धोपयोगी।
किसलयति वनान्ते कोकिलालाप रम्य,
विकसति न वसन्ते मालती कोऽत्र हेतु ॥ (शार्ङ्गधर पद्धति)

अर्थात् वसन्त में मालती का पुष्पोद्गम होने पर भी वसन्त वर्णन के प्रसग में काव्य में इसका उल्लेख नहीं किया जाता है।

यद्यपि चन्दन विटपी विधिना फल कुसुम वर्जितो विहित ।
निजवपुषैव परेषा तथापि सन्तापमपहरति ॥ (श्री भोजदेव)

वास्तविकता यह है कि चन्दन के वृक्ष में फूल फल दोनों होते हैं किन्तु काव्य में इनकी चर्चा करना कविसमयानुसार निषेध है।

जातिगत नियम —

जातिगत नियम के अनुसार ससार के अनेक स्थानों में उपलब्ध होने वाले पदार्थों का उपलब्धिस्थान कोई विशेष स्थान ही माना जाता है और अन्य स्थानों का निषेध कर दिया जाता है। यथा—यद्यपि मकर विभिन्न जलाशयों में देखा जाता है तथापि काव्य में इस नियम के अनुसार केवल समुद्रों में ही पाये जाने का उल्लेख करना चाहिए। मोती के प्राप्त करने का एक मात्र स्थान ताम्रपर्णी नदी को ही माना जाना चाहिए। इसका उल्लघन करना काव्य दोष माना जाता है।

जातिगत कविसमय के ही समान द्रव्यगत कविसमय के भी तीन-उपभेद किये गये हैं जो इस प्रकार हैं :—

असत् द्रव्यों का निबन्धन (असतोऽपि द्रव्यस्यनिबन्धनं) :—

बहुत से असत्य द्रव्यों का काव्य में इस प्रकार वर्णन किया जाता है मानो वे सत्य ही हैं। यथा—अन्धकार को मुष्टिग्राह्य एवं सूचिभेद्य कहना। अमूर्त अन्धकार को पकड़ना तथा सूचि से छेदन करना असम्भव है, फिर भी काव्य में इसका सत्य के ही समान वर्णन किया जाता है; चन्द्रिका को घड़े में भरने का वर्णन भी इसी प्रकार का है।

सत् द्रव्यों का अनिबन्धन (द्रव्यस्य सतोऽनिबन्धनं) :—

कुछ पदार्थों के सत्य होने पर भी उनका काव्य में उल्लेख नहीं होता है। यथा—मास के दोनों पक्षों (कृष्ण तथा शुक्ल) में चन्द्रमा की स्थिति समान होती है लेकिन काव्य में चन्द्रिका का वर्णन शुक्ल पक्ष में ही किया जाता है।

कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नायाः, शुक्लपक्षेत्वन्धकारस्य (का० मी० अ० १४)।

द्रव्य सम्बन्धी नियम :—

कवि समयानुसार कुछ वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान एक ही माना जाता है। अन्यत्र प्राप्त होने पर भी काव्य में उल्लेख नहीं किया जाता है। यथा—मलयाचल को ही एकमात्र चन्दन का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। भूर्जपत्र का उत्पत्ति स्थान हिमालय प्रसिद्ध है।

क्रियागत कविसमय

असत् क्रिया का निबन्धन (असतोऽपि क्रियार्थस्य निबन्धनं) :—

काव्य में कुछ ऐसी क्रियाओं का वर्णन किया जाता है जिनकी सत्यता का कोई प्रमाण नहीं है। यथा—चक्रवाक मिथुन का रात्रि वियोग वर्णन, चकोर का चन्द्रिका पान करना आदि। चक्रवाक मिथुनस्य निशिभिन्नतटाश्रयणं चकोराणां चन्द्रिकापानं च (का० मी० अ० १४)।

सत् क्रियाओं का अनिबन्धन (सतोऽपि क्रियार्थस्यानिबन्धनं) :—

कुछ वास्तविक क्रियाओं का काव्य में उल्लेख नहीं किया जाता। यथा—दिन में नील कमल का पुष्पित होना तथा रात्रि में ही शेफालिका के पुष्पों का गिर जाना आदि।

दिवानीलोत्पलानामविकासो, निशानिमित्तश्च शेफालिका कुसुमानामविस्रंसः (का० मी० अ० १४)।

क्रिया सम्बन्धी नियम :—

कोकिल पक्षी का शब्द वसन्त के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में भी सुना जाता है लेकिन

कविसमय के अनुसार काव्य में वसन्त ऋतु में ही इसका वर्णन होना चाहिए। ऐसे ही मयूर के नृत्य करने का वर्णन पावस ऋतु में ही करना चाहिए जबकि मयूर-नृत्य अन्य ऋतुओं में भी देखा जाता है।

गुणगत कविसमय

असत् गुणों का निबन्धन (असतो गुणस्य निबन्धन) —

रंग रूप हीन अमूर्त गुणों को काव्य जगत् में एक निश्चित रंग रूप प्रदान किया गया है। यथा—हास्य का रंग श्वेत, यश का रंग श्वेत, अपयश का रंग कृष्ण, पाप का कृष्ण, क्रोध का रक्त तथा अनुराग का रक्त वर्ण निश्चित किया गया है। (का० मी० अ० १५)।

सतगुणों का अनिबन्धन (सतोऽपिगुणस्यानिबन्धन) —

इस कविसमय के अनुसार बहुत से पदार्थों के वास्तविक गुणों का उल्लेख नहीं करते हैं और उनके स्थान पर अन्य गुणों की स्थापना करते हैं। यथा—कुन्द कली का वर्ण रक्त होता है लेकिन काव्य में उसको श्वेत कहते हैं। कमल कलिका की हरीतिमा का वर्णन न करके श्वेत वर्ण की कल्पना की जाती है। प्रियगु पुष्पों का पीत वर्ण जगत् प्रसिद्ध है परन्तु काव्य में श्याम वर्ण का ही उल्लेख करना ग्राह्य है।

गुण सम्बन्धी नियम —

माणिक्य, पुष्प, तथा मेघ के वर्णों में विभिन्नता होते हुए भी काव्य में क्रमश इनका वर्णन लाल, श्वेत तथा कृष्ण वर्ण का ही करने का नियम है। (का० मी० अ० १५)

इनके अतिरिक्त कवि समय के अन्तर्गत् कुछ और भी वर्ण हैं—जिनमें पर्याप्त भिन्नताएँ हैं फिर भी उनको समान वर्णवाला मान लिया गया है और काव्य में उन्हीं कल्पित वर्णों का उल्लेख किया जाता हैं। यथा कृष्ण और नील, कृष्ण तथा हरित, कृष्ण एव श्याम, पीत तथा रक्त एव शुक्ल तथा गौर वर्णों का एक समान होना वर्णन किया जाता हैं। (का० मी० अ० १५)

कैलासगौर वृषमारुरुक्षो पदार्पणानुग्रह पूत पृष्ठम्।
अवेहिमाकिङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदर नाम निकुम्भमित्र॥ (रघुवश सर्ग २ ३५)

अर्थात् मैं शकरजी का कृपा पात्र और सेवक कुम्भोदरनाम का गण हू। और शिवजी के शक्तिशाली गण निकुम्भ का मित्र हू। जब शकरजी कैलास पर्वत के समान गौर (श्वेत) वर्ण के नन्दी पर चढ़ते हैं तब उसके पहले अपने चरणों से मेरी पीठ पवित्र करते हैं। यहाँ श्वेत और गौर में समता दिखाई गई है।

काव्य में नेत्रों के विभिन्न वर्णों का वर्णन मिलता है। नेत्रों में श्वेत, श्याम, रतनार,

कृष्ण तथा मिश्रवर्णों का वर्णन किया गया है। इन रंगों में भिन्नता होते हुए भी कविसमय के अनुसार समान माना जाता है।

कवियों ने इन उपर्युक्त कविसमयों के अतिरिक्त कुछ फुटकल कविसमयों की भी स्थापना की है। यथा—क्षीर सागर तथा क्षार समुद्र एवं सागर और महासागर में भिन्नता होने पर भा एकता स्वीकार करली गई है। (का० मी० अ० १४)।

पातालीय कविसमय :—

जिस प्रकार स्वर्ग्य और भौम कविसमयों की स्थापना की गई है उसी प्रकार पातालीय कवि-समय की भी। पातालीय कविसमय का सम्बन्ध पाताल लोक में स्थित मानी गई वस्तुओं से है। यथा—नागों और सर्पों की एकता स्वीकार करना।

पाताल लोक में निवास करने वाले दैत्य, दानव एवं असुरादि तोनों विभिन्न जातियाँ हैं। यथा—हिरण्याक्ष, हिरण कश्यपु, प्रह्लाद, वलि और वाणादि दैत्य। विप्रचिति, शंवर, नमुचि पुलोम आदि दानव हैं। बल, वृत्र एवं वृषपर्वा आदि असुर हैं। (का० मो० अ० १६)।

राजशेखर के पश्चात् और भी बहुत से आचार्य हुए हैं लेकिन उनमें मम्मट के अतिरिक्त अन्य किसी ने कविसमय का उल्लेख नहीं किया है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों में अधिकांश ने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में काव्यगत विभिन्न दोषों की चर्चा की है। वाक्यगत दोष के कई भेद किये गये हैं :—इनमें से १८वाँ दोष प्रसिद्ध हतत्त्व दोष कहा गया है। इस दोष का एकमात्र आधार कविसमय है। कवि प्रसिद्धि के अनुसार मंजीरादि के प्रसंग में रणित, शिञ्जित तथा गुंजित आदि; पक्षियों के प्रसंग में कूजित, वासित आदि तथा रतिक्रीड़ा के वर्णन में स्तनित, मणित आदि एवं मेघ के वर्णन में गर्जित, रसित आदि शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिए। यदि कोई कवि उपर्युक्त नियम का अनुसरण नहीं करता तो उसकी रचना दोष पूर्ण मानी जानी चाहिए।

आचार्य मम्मट के ही उपर्युक्त कथन का समर्थन केशव मिश्र ने भी अलंकार शेखर में किया है।

अर्थगत दोषों के प्रसंग में सप्तम उल्लास में प्रसिद्धि विरुद्धत्व दोष की चर्चा की गई है। काव्य में लोकप्रसिद्धि तथा कवि प्रसिद्धि के अर्थ के विरुद्ध अर्थ का उपनिबन्धन करना ही इस दोष का कारण है। यथा—लोक प्रसिद्धि है कि कामदेव का अस्त्र वाण है चक्र नहीं। (काव्यप्रकाश पृ० ३३६)।

मम्मट के कविसमय के समर्थन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। यथा—

सुसितवसनालङ्काराया कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधु ।
तदनु भवत कीर्ति केनाप्यगीयत येन सा,
प्रिय गृहमगान्मुक्ता शंका क नासिन्नुम प्रद ॥ (काव्यप्रकाश)

उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने कीर्ति और चाँदनी की समानता स्थापित की है। यद्यपि कीर्ति अमूर्त पदार्थ है। इसका कोई रूप रंग नहीं है तथापि कविसमयानुसार उसका वर्ण निश्चित् कर दिया गया है। काव्य में कीर्ति का वर्ण श्वेत माना गया है। उसी कविसमय के आधार पर चाँदनी और कीर्ति में तुलना की गई है। राजशेखर के ही मत का समर्थन मम्मट ने भी किया है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् हेमचन्द्र का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने काव्यानुशासन के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र से नौ वे सूत्र तक कवि शिक्षा की समीक्षा की है। दसवे सूत्र में कविसमय का विवेचन किया है। राजशेखर के परवर्ती आचार्यों में जिन्होंने कविसमय का विवेचन किया है हेमचन्द्र जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हेमचन्द्र जी राजशेखर के ऋणी हैं लेकिन वर्णन प्रणाली में इनकी अपनी मौलिकता है। आपने कविसमय का विभाजन तीन भागों में किया है—सत् का अनिबन्धन असत् का निबन्धन, और सामान्य नियम। इनमें से प्रत्येक के चार उपविभाग किए हैं—

तत्र सतोऽपि सामान्यस्यानिबन्धो, अर्थात् जो सत्य है उसका सामान्यन उल्लेख न करना, यथा—मालत्या वसन्ते, पुष्पफलस्य चन्दन द्रुमेषु, फलस्याशोकेषु अर्थात् वसन्तऋतु में मालती पुष्प के फूलनेका वर्णन, चन्दन वृक्ष के फूल तथा फल का वर्णन, और अशोक के फल का वर्णन सत्य होने पर भी नहीं करना चाहिए।

द्रव्य के सम्बन्ध में सत्य का अनिबन्धन :—

कृष्णपक्षे सत्या अपि ज्योत्स्नाया शुक्लपक्षेत्वन्धकारस्य, अर्थात् कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना के रहने पर भी उसका उल्लेख नहीं करना चाहिए और शुक्ल पक्ष में अन्धकार रहने पर भी चाँदनी का ही वर्णन करना चाहिए।

क्रिया के सत्य होते हुए भी उसका उल्लेख न करना —

दिन में नीलकमल का प्रफुल्लित होना और रात्रि में ही शेफालिका के पुष्पों के झड़ने का वर्णन करना।

गुण की सत्यता का उल्लेख न करना :—
कुन्द कली, कामियों के दाँतो के रक्तवर्ण का उल्लेख न करना, कमल कलिका की हरीतिमा का वर्णन न करना, और प्रियंगु के पुष्प के पीतवर्ण का उल्लेख न करना ।

असतोऽपि सामान्यस्य निबन्धो अर्थात् असत्य का सत्य की भाँति उल्लेख करना । यथा—
नदीषु नीलोत्पलादीनां, जलाशयमात्रेऽपि हंसादीनां, यत्र तत्र पर्वतेसुवर्ण रत्नादीनामिति । अर्थात् नदी में कमलों का पाया जाना, सभी जलाशयों में हंस का पाया जाना, पर्वत मात्र में स्वर्ण तथा रत्न की प्राप्ति का वर्णन इत्यादि जातिगत असत्य बातों का सत्य की तरह उल्लेख करना कविसमय है ।

द्रव्य के सम्बन्ध में असत्य का सत्य के रूप में उल्लेख :—
अन्धकार का मुष्टिग्राह्य होना, और सूचि से भेदन किया जाना, ज्योत्स्ना का घड़े में भरा जाना आदि सभी बातें असम्भव हैं लेकिन उनका वर्णन सत्य की भाँति किया गया है ।

क्रिया सम्बन्धी असत्य का सत्य के रूप में वर्णन :—
चकोर का चन्द्रिका पान करना, और चक्रवाक् मिथुन का रात्रि में वियुक्त हो जाना । दोनों घटनाओं की प्रामाणिकता सन्देहास्पद है लेकिन सत्य की भाँति उल्लेख किया जाता है ।

गुण की असत्यता का सत्य की तरह उल्लेख :—
यश और हास्य का वर्ण श्वेत मान लेना, अपयश और पाप का वर्ण कृष्ण मान लेना । क्रोध और अनुराग का वर्ण रक्त निश्चित कर लेना ही कविसमय है ।

जातिगत नियम का उल्लेख :—
समुद्र में ही मकर का पाया जाना तथा ताम्रपर्णी नदी में ही मोती के प्राप्त होने का वर्णन करना कविसमय है ।

द्रव्यगत नियम का उल्लेख :—
मलयपर्वत को ही एक मात्र चन्दन की उत्पत्ति का स्थान स्वीकार करना तथा हिमालय को ही भूर्ज पत्र की उत्पत्ति का स्थान मान लेना कविसमय है ।

गुणगत नियम का उल्लेख :—
रत्नों का रंग लाल, पुष्पों का श्वेत और बादलों का कृष्णवर्ण स्वीकार करना ही इस प्रकार के कविसमय के उदाहरण हैं ।

क्रियागत नियम का उल्लेख :—
ग्रीष्मादि अन्य ऋतुओं में सुनाई देने पर भी कोकिल के बोलने का वर्णन वसन्त में ही करना, अन्य ऋतुओं में मयूरों के नृत्य करने पर भी केवल वर्षा ऋतु में ही वर्णन करना कविसमय है ।

१४वीं शताब्दी में विश्वनाथ महापात्र ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में काव्यगत दोषों का विचार किया है। काव्य के वाक्यगत दोषों के १९वे प्रकार में प्रसिद्धि त्याग नामक दोष का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है —

प्रसिद्धि त्यागो यथा—'घोरो वारि मुचा रव' ॥

अर्थात बरसने हुए बादल के द्वारा उत्पन्न किये जाने वाली ध्वनि को रव न कह कर गर्जन कहना उपयुक्त होगा अन्यथा प्रसिद्धि त्याग का दोष हो जायेगा।

इसी प्रकार दर्पणकार ने निर्हेतुत्व दोष की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह दोष गुण हो जाता है जब वर्ण्य विषय लोक प्रसिद्ध होता है

"सम्प्रतिसंध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति"। (पृ० ६२८)

अर्थात् काव्य में चक्रवाक मिथुन के रात्रि में वियुक्त होने का वर्णन करना चाहिए। लोक प्रसिद्ध है

अरिसिंह की काव्यकल्पलता वृत्ति (१३ शताब्दी) को १४वीं शताब्दी के लगभग अमर चन्द्र यति ने वृत्ति से सुशोभित किया। इस ग्रंथ के प्रथम प्रतान के पाँचवें स्तवक में कवि समय का उल्लेख है। कविसमय के साथ ही कवि शिक्षा का भी विवेचन किया गया है।

काव्यकल्पलता वृत्ति के ही आधार पर देवेश्वर ने कविकल्पलता की रचना की। कविसमय के प्रसंग दोनों ग्रंथों में समान है।

केशव मिश्र कृत अलंकार शेखर का काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सोलहवीं शताब्दी में इसकी रचना होने के कारण उस समय तक प्रचलित सभी काव्यगत रूढ़ियों तथा कविसमयों का उल्लेख इसमें मिलता है। इसके षष्ठ रत्न के प्रथम मरीचि में कविसमय का विवेचन है। इसमें भी कविसमय का विभाजन राजशेखर की ही भांति किया गया है। नवीनता केवल इतनी ही है कि पूर्ववर्ती आचार्यों ने कविसमय शब्द का प्रयोग किया है और मिश्रजी ने इसके स्थान पर कविसम्प्रदाय का प्रयोग किया है। कहीं कहीं हिन्दी के विद्वानों ने इसको कवि प्रसिद्धि की संज्ञा प्रदान की है। आजकल इसी को काव्यरूढ़ि भी कहने लगे हैं।

संस्कृत काव्य समीक्षा ग्रंथों में कविसमय की यही सामान्य रूप रेखा है। जिसका ऊपर विवेचन किया गया है। काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में कविसमय का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। भामह से लेकर केशव मिश्र तक जितने भी आचार्य हुए हैं कुछ को छोड़कर सभी ने कविसमय की चर्चा की है। बाद में यही कविसमय हिन्दी के कवियों एवं काव्यों का अभिन्न

अंग बन गया। इसका कारण यह है कि कविसमयों का जन्म काव्यशास्त्रों में नहीं प्रत्युत काव्यों में हुआ। यही कारण है कि आदि कवि वाल्मीकि के रामायण से लेकर विभिन्न स्थितियों में होते हुए वर्तमान समय तक अविरल गति से कविसमय की धारा चली आ रही है।

कविसमय का प्रयोग संस्कृत काव्यों में आरम्भ हुआ। इसके बाद वही धारा प्राकृत एवं अपभ्रंश काव्यों में भी समाहित हुई। हिन्दी के मध्य युगीन काव्य में भी कविसमय का प्रयोग बाहुल्य द्रष्टव्य हैं।

काव्य में कविसमय की स्थापना के मुख्यतया दो उद्देश्य हो सकते हैं, परम्परा पालन एवं काव्य में रमणीयता लाना। जहाँ तक कविसमय के सम्बन्ध में परम्परा पालन की बात है, इसका समर्थन स्वयं राजशेखर ने ही किया है 'कविसमय शब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोग मात्र-दर्शिभिः प्रयुक्तो रूढ़श्च।' (का० मी० अ० १४) अर्थात् कविसमय के शब्द का मूल अर्थ न जानते हुए भी कुछ लोगों ने पूर्ववर्ती काव्यों के प्रयोग को देखकर ही प्रचलित कर दिया और वही प्रयोग आगे चलकर रूढ़ हो गया।

महाराज भोजराज और अपभ्रंश

रामसिंह तोमर

आठवीं से ग्यारहवीं शती अपभ्रंश साहित्य का उत्कर्ष काल था। संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश साहित्य की ओर भी काव्य समीक्षकों का ध्यान जाने लगा था जो अपभ्रंश साहित्य की उत्कृष्टता तथा परिमाण की सूचना देता है। काव्यभाषाओं में संस्कृत प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी उल्लेख होने लगा था। राजशेखर (लगभग ८८०-९२० ई०) और महाराज भोज (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध) ने साहित्य का विशद रूप से विवेचन करते हुए प्राकृत और अपभ्रंश के संबंध में जो कुछ कहा है उससे इनके साहित्य की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में प्रजापति के अंगों से उत्पन्न भारतीय समाज के चातुर्वर्ण्य के रूपक का अनुसरण करते हुए राजशेखर ने काव्यपुरुष के अंगों का रूपक इस प्रकार प्रस्तुत किया है शब्द और अर्थ काव्यपुरुष के शरीर हैं, संस्कृत मुख है, प्राकृत भुजाएँ हैं, अपभ्रंश जाँघें हैं, पैशाची पैर हैं। राजसभाओं में होनेवाली कविगोष्ठियों और सभाओं की चर्चा करते हुए राजशेखर ने बताया है कि राजा की कवि सभा में राजासन के सामने उत्तर की ओर संस्कृत के कवि बैठें, बहुभाषा कवित्व में प्रवीण कवि कहीं भी बैठ सकते थे, पूर्व की ओर प्राकृत के कवियों के बैठने के नियम का उल्लेख किया है और पश्चिम की ओर अपभ्रंश के कवियों और दक्षिण की ओर भूतभाषा के कवियों के बैठने का संकेत किया है। राजशेखर कन्नौज के निवासी थे। कन्नौज में कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। संभव है राजशेखर के इस वर्णन में समसामयिक सांस्कृतिक जीवन की झलक हो, यह भी हो सकता है कि पुरानी परंपरा का राजशेखर स्मरण कर रहे हों। जो हो, अपभ्रंश के कवि और काव्य के प्रति पण्डितवर्ग उदासीन नहीं था इससे यह स्पष्ट है। पश्चिम दिशा की ओर अपभ्रंश कवि के आसन ग्रहण करने की बात विचारणीय है। अपभ्रंश काव्य का वास्तविक क्षेत्र पश्चिमी भारत ही रहा है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों का मत है कि पैशाची का क्षेत्र कदाचित् दक्षिण भारत रहा हो।

राजशेखर ने अपभ्रंश के संबंध में उल्लेख भर किए हैं—भाषा और साहित्य की दृष्टि से उसका विवेचन नहीं किया, किन्तु उनके उल्लेख पर्याप्त प्रौढ़ हैं अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे अपभ्रंश साहित्य से भली भाँति परिचित थे। अपभ्रंश के विभिन्न भेदों से भी वे परिचित रहे होंगे जिसका उनके द्वारा उद्धृत ऐसे पद्यों से आभास मिलता है

सापभ्रंश प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥

सकल, मरु, भुव, टक्क, भादानक सभी भारत के पश्चिमी प्रदेशों के प्राचीन नाम हैं।

राजशेखर के समान ही महाराज धारेश्वर भोज भी बहुश्रुत थे। सरस्वतीकंठाभरण (अलंकार ग्रंथ) और श्रृंगार प्रकाश में उन्होंने अपभ्रंश के संबंध में कई सारगर्भित उल्लेख किए हैं। सरस्वतीकंठाभरण में प्राचीन परंपरा का उल्लेख करते हुए भोज ने कहा है कि अपभ्रंश से गुर्जर तुष्ट होते हैं, भोज से कई शती पूर्व दण्डी ने अपभ्रंश के साथ आभीरादि के संबंध की ओर संकेत किया था। इन उल्लेखों से केवल इतना अनुमान करना ही युक्तिसंगत होगा कि अपभ्रंश की रचनाओं को आभीरगुर्जर प्रेम से पढ़ते होंगे। किसी प्रदेश विशेष के साथ आभीरगुर्जरों का संबंध निश्चित न हो सकने के कारण अपभ्रंश के भी प्रदेश विशेष के अनुसार भेदों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। आभीर-गुर्जर किसी कवि की कोई भी अपभ्रंश कृति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। मुक्तक पद्यों के रचयिताओं के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः आभीरगुर्जरादि के साथ अपभ्रंश के संबंधों के उल्लेख केवल अनुश्रुति के आधार पर हुए हैं।

अपभ्रंश के भेदों के संबंध में भी वैयाकरणों ने उल्लेख किए हैं, रामशर्मा, मार्कण्डेय आदि वैयाकरणों ने भेदों के नामभर गिनाए हैं, उनके उदाहरण नहीं दिए और न विशेषताओं का ही विवेचन किया है, केवल कुछ संकेत किए हैं। भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में अन्य काव्यशास्त्रियों की अपेक्षा सबसे अधिक अपभ्रंश पद्य उद्धृत किए हैं। इन पद्यों में जहाँ तहाँ व्याकरण की दृष्टि से अन्तर भी दृष्टिगोचर होते हैं। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेख भोज ने श्रृंगारप्रकाश में किए हैं। श्रृंगार प्रकाश में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक ग्रन्थों से काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट पद्य उदाहरण के रूप में भोज ने दिए हैं। जिन कृतियों से पद्य चुने हैं उनमें से अनेक इस समय उपलब्ध नहीं हैं। गुणाढ्य की अप्राप्य मूल कृति बड्डकहा (बृहत्कथा) से भी दो मूल पैशाची के अंश उद्धृत किए हैं। पैशाची के अध्ययन के लिए ये अंश बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भोज के सामने गुणाढ्य की कृति मूलरूप में रही होगी या उसके कुछ अंश अवश्य ही रहे होंगे जिनके आधार पर उन्होंने पैशाची के उद्धरणों को चुना।

श्रृंगार प्रकाश एक प्रकार से साहित्य का विश्वकोश है। भोज ने अपनी इस कृति को 'साहित्य प्रकाश' रचना का उदाहरण बताया है। इस महत्त्वपूर्ण कृति के अभी तक प्रथम चौदह प्रकाश मैसूर के श्री जोस्येर द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुए हैं। सन् १९२६ में श्री यदुगिरियतिराज द्वारा संपादित होकर तीन प्रकाश (२२-२४) मद्रास से प्रकाशित किए गए थे। पूरी कृति में छत्तीस प्रकाश हैं। सम्पूर्ण कृति का आलोचनात्मक अध्ययन डा० वी. राघवन ने किया है। भोज के विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता है विश्लेषण तथा वर्गीकरण की प्रवृत्ति। प्रायः प्रत्येक विषय को विश्लेषण करके उन्होंने समझाया है। प्राकृत

और अपभ्रंश का भी उन्होंने इसी प्रकार विश्लेषण किया है। शृंगार प्रकाश के तीसरे प्रकाश में प्रकृति प्रत्ययादि का विवेचन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने वाङ्मय के तीन प्रकार बताए हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। इनमें से प्रत्येक के तीन भेद किए हैं संस्कृत के श्रौत, आर्ष और लौकिक, प्राकृत के सहज, लक्षित और श्लिष्ट, और अपभ्रंश के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। इन भेदों का मौलिक आधार क्या है? विषय या भाषा किसी भी एक आधार को भोजने इस वर्गीकरण के लिए नहीं अपनाया। संस्कृत के श्रौत भेद के दो भेद किए हैं मन्त्र और ब्राह्मण, आर्ष के स्मृति और पुराण और लौकिक के दो भेद-काव्य और शास्त्र। प्राकृत के भेदों में से सहज के दो भेद किए हैं—संस्कृतसम और देश्य। लक्षित के महाराष्ट्र और शौरसेन तथा श्लिष्ट के पैशाच और मागधी। स्पष्ट है कि यह विभाजन भाषा भेद के आधार पर किया गया है। प्राकृत का संस्कृतसम भेद संस्कृत के समान है, काव्यशास्त्र के ग्रथों मे ऐसे पद्य मिलते हैं जिनकी भाषा संस्कृत प्राकृत या अपभ्रंश मे एक ही रहे किन्तु ऐसे पद्य विरल ही हो सकते हैं उन्हें स्वाभाविक रचना नहीं कहा जा सकता। देश्य के उदाहरण मे कुछ देशी शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा अन्य शब्द तद्भव हैं। महाराष्ट्र के उदाहरण रूप मे 'रावणवहो' का पहला पद्य उद्धृत किया है, शौरसेन यथा ही मिलता है। पैशाच के उदाहरण के रूप मे कुछ अन्तर के साथ वही पद्य उद्धृत किया है जो हेमचंद्र ने अपने व्याकरण मे उद्धृत किया है। मागध के उदाहरण के रूप में मागधी का पद्य उद्धृत हुआ है। प्राकृत के महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची मागधी, आदि महत्त्वपूर्ण भेदों का भोजने उल्लेख किया है।

अपभ्रंश के तीन भेदों मे से आवन्त्य, लाटीय को उत्तम माना है। केवल इन दो को ही भोज उत्तम नहीं मानते, लाटीयादि से स्पष्ट है कि कुछ अन्य अपभ्रंश भेदों को भी वे उत्तम मानते होंगे किन्तु उनके नामोल्लेख के अभाव मे कुछ नहीं कहा जा सकता। अवन्ती मध्यदेश का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। लाट दक्षिणी गुजरात को कहते थे। राजशेखर ने लाटदेश की प्रशंसा करते हुए कहा है कि लाट प्राकृत का पाठ रुचिपूर्वक करते थे तथा संस्कृत के द्वेषी थे। बालरामायण और काव्यमीमांसा मे लाट देश की और भी अधिक प्रशंसा की है। कदाचित् भोज को भी इस परंपरा का ज्ञान था। आवन्त्य और लाटीय के जो उदाहरण दिए हैं, वे इस प्रकार हैं —

आवन्त्य —

एकहु असलोणी अल आहरण सुसठवी
अच्छि उपरपट बीवउ कहिम्मल
भट्टएवटपि अमइए।

उणजाणिउं विरहातुरणुजूरि
अएमउज्झ हरोदावणु दिण्णु
वहिणे विण्णू रिअए ॥

आवन्त्य नामक किसी अपभ्रंश भेद की चर्चा कहीं नहीं मिलती। कुछ प्राचीनों ने आवन्ती को प्राकृत का एक भेद अवश्य माना है, किन्तु भाषा की दृष्टि से उसकी विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया है। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर ने कहा है कि अवन्तिजा रेफवंती लोकोक्तिबहुला होती है। लोकोक्तिबहुला होना व्याकरण की कोई निश्चित विशेषता नहीं है। रेफवती होना शैली की विशेषता कही जा सकती है। जो हो आवन्त्य पश्चिमी अपभ्रंश ही है। त का द होना शौरसेनी की विशेषता ऊपर के पद्य में मिलती है। ध्वनि विषयक अन्य विशेषताएँ हेमचंद्र की अपभ्रंश के समान ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पद्य का पाठ ठीक ठीक मुद्रित नहीं हुआ है क्यों कि छंद की दृष्टि से चरणों में मात्राएं कम या अधिक हैं। जिस क्रम से छंद को यहाँ लिपिबद्ध किया है उसमें मात्रा क्रम इस प्रकार है २३, २०, १३, = ५६ तथा १६, १६, १२ = ४० । छंदशास्त्रीय ग्रंथों में इस मात्राक्रम का कोई छंद नहीं मिलता। पद्य का अर्थ और भी अस्पष्ट है। किसी नायिका का चित्रण है ऐसा प्रतीत होता है। कहिम्मलं जैसे पदों का अर्थ स्पष्ट नहीं है। अर्थ कुछ इस प्रकार होगा : एकतो विच्छू के डंक के समान असुंदर है, आभरणों से लदी हुई है, उपलंपट है, दूसरे बाचाल (कहिम्मल !) है, पति से भी अमइए (?) कठोर रहती है। फिर जानती हूं, विरहातुर हो खिन्न न हो। अये ! बीच में रोने लगी। बहिन ! समझदारों में जाओ अर्थात् धीरज धरो। भोज की आवन्त्य और शौरसेनी अपभ्रंश में कोई भेद नहीं है।

लाटीय का उदाहरण भी इसी प्रकार अस्पष्ट है। पद्य इस प्रकार है :

हिरउ हरन्तहो चोरहोए भुजि दन्दुहले,
जप्पिउ पणव्व सच्छिले, विलोइ अउगणे।
एहूपुणपिण गणत्थणि संथह उक्कपणु,
जच्चन्दाण भेदिज्जइ, अहरहो दन्तपणा ॥

लाटीय और गौर्जर भोज के मत से दो अलग अपभ्रंश भेद हैं—क्योंकि इसके आगे उन्होंने गौर्जर अपभ्रंश का उल्लेख किया है। पाठ शुद्ध न होने से प्रस्तुत पद्य का छंद भी ठीक नहीं लगता। पहली पंक्ति में २४ मात्रा, दूसरी तथा तीसरी में २२, २२ और चौथी में २४ हैं। विषमपद चतुष्पदी है, किन्तु अपभ्रंश छन्द ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं मिलता। भाषा विचित्र है। ओकारान्त-हरन्तहो, चोरहो-रूप प्राकृत के हैं, एहु, इज्जइ प्रत्यय युक्त

पुस्तक-समीक्षा

चित्रकाव्यकौतुकम्—रचयिता—चित्रकवि पण्डित रामरूप पाठक, सटीक, सपादिका—डा० कुमारी प्रेमलता शर्मा, अधिष्ठात्री—सगीत एव ललित कला सकाय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, प्रकाशक -मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी . १९६५ , रॉयल पृष्ठ सख्या १४६, मूल्य १२) रुपये ।

प्रस्तुत कृति तीन खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में काशी सुमेरुपीठाधीश्वर स्वामि महेश्वरानद सरस्वती जगद्गुरु शकराचार्य का सस्कृत श्लोकों में आशीर्वचन, गोकर्णनासिब्रह्मर्षि देवरात महोदय की सस्कृत श्लोकों मे चित्रप्रशसा, सस्कृत में ही ग्रन्थकर्त्ता का परिचय, ग्रथकर्ता का निवेदन, सपादकीय, तथा प्रेमलता शर्मा की विद्वत्तापूर्ण भूमिका 'चित्रकाव्य मीमासा' है। द्वितीय खण्ड मे मूल कृति है। पचपन बन्ध हैं। प्रथम भाग में आठ माङ्गलिक बन्ध हैं, दूसरे मे आठ आयुधबन्ध हैं, तीसरे में तेरह विष्णु आयुध बध हैं और अन्त में छब्बीस प्रकीर्ण बध हैं। प्रत्येक बन्ध का चित्र देकर काव्य रचना को उसमें बैठाया है। बध के सामने के पृष्ठ पर बन्ध का लक्षण दिया गया है। अलकार शास्त्र के ग्रथों से ही लक्षण प्राय उद्धृत किए हैं, किन्तु कई बन्ध नवीन हैं और उनके लक्षण ग्रथकर्ता ने स्वय प्रस्तुत किए है—जैसे तिलकबन्ध (पृ० ९), पचम पद्मबन्ध (पृ० ५१), इत्यादि। चित्र में कविता कहाँ से आरभ और कहाँ समाप्त होती है—यह भी सकेत कर दिया गया है। प्रत्येक कविता की सस्कृत व्याख्या और हिंदी अर्थ दे दिया गया है। केवल सस्कृत जाननेवाले और हिंदी जाननेवाले दोनों ही श्रेणी के पाठक इस रचना से आनद पा सकेगे। तृतीय खण्ड में ग्रन्थकर्ता द्वारा रचित सस्कृत लघुकाव्य-सगृहीत हैं—भक्त कण्णपचरित, एकाम्रेश्वरकथा, धर्मगुप्तचरित, रेणुकाचार्य चरित, एकलिङ्गचरित, दाशार्हराजकथा, श्रीरामचरित, तथा अनेक समस्यापूर्तियाँ किए गए सस्कृत पद्य।

चित्रकाव्य की रचना सस्कृत कवियों और हिंदी के रीतिकालीन कवियों का प्रिय काव्यव्यसन रहा है। प्राचीन काल में राजाओं की कविगोष्ठियों में चित्रकाव्य रचयिताओं का सम्मान होता था। बाणभट्ट ने कादम्बरी में कहा है कि अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती, गूढचतुर्थपाद प्रहेलिका आदि मनोविनोद के श्रेष्ठ साधन हैं। राजशेखर ने भी काव्य मीमासा में बताया है कि राजाओं की कविगोष्ठियों में चित्रकवियों के लिए स्थान निश्चित था। प्रस्तुत कृति काव्य की इस महत्त्वपूर्ण परपरा की एक कडी है। मम्मटाचार्य ने कहा है कि शक्तिप्रदर्शन के लिए कवि चित्रकाव्य की रचना करते हैं। चित्रकाव्य कौतुक के रचयिता की काव्यशक्ति का पूर्ण परिचय उनके सरस भक्तिपूर्ण पद्यों और चित्रबन्धों में पाठक को मिलेगा। विद्वानों का कथन है कि किसी भी पद्य को चित्र में सजाया जा सकता है, किन्तु फिर भी सहृदय कवियों ने चित्रबन्धों की रचना करके अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया है। ग्रथ की भूमिका में सपादिका ने दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कुछ चित्रबधों की रचना की थी। उनके रामचरित मानस में छत्र, खड्ग, नाल, सनाल पद्म, त्रिशूल, नागमयूर, किरीट बन्ध मिलते हैं, नमामि भक्त वत्सल तथा आगे चले बहुरि रघुराया पद्यों से अश्वगति बध तथा छत्रबध अकित कर उदाहरण भी दिए हैं।

बंधों को पढ़ कर सभी काव्य रसिकों को आनंद मिलेगा। कुछ चित्रों के कुछ भागों में अक्षर नहीं लिखे हैं—कदाचित् चित्रकाव्य का यह एक स्वीकृत अलिखित विधान है कि कोई अंग खाली न रहे। प्रस्तुत कृति के चित्रों में शंखबंध में शंख के ऊपरी भाग, उलूखलबन्ध का एक भाग, तथा कमण्डलुबंध में कमण्डलु का मुठिया खाली रह गए हैं। शरयन्त्रबन्ध (पृ० ९८) और अश्वपदबन्ध कदाचित एक ही हैं, याक दाचित भूल से अश्वपदबन्ध के स्थान पर शरयन्त्रबन्ध छप गया है। भूमिका में पृ० २२ पर 'चित्रे निवेश्य' माघकाव्य का नहीं अपितु अभिज्ञान शाकुंतल का है। भूमिका पाण्डित्यपूर्ण है, चित्रकाव्य के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती है।

—रामसिंह तोमर

भावरंग-लहरी-प्रथम भाग—रचयिता तथा प्रकाशक गायनवादनाचार्य पं० बलवंतराय गुलाबराय भट्ट 'भावरंग' काशी, पृष्ठ १९२, मूल्य ५) रुपये।

हिंदुस्थानी संगीत-सागर में 'भावरंग-लहरी' आज से करीब करीब दो वर्ष पूर्व ही लहराने लगी थी। 'भावरंग-लहरी' के स्रष्टा है संगीताचार्य श्री बलवंतराय गुलाबराय भट्ट जो वर्तमान में काशी हिंदू विश्वविद्यालय की कला-संगीत भारती संस्था में प्राध्यपक के पदपर विद्यमान हैं। यह पुस्तक ग्रंथकर्ता द्वारा रचित उत्तर भारतीय रागदारी संगीत की ख्याल-ध्रुवपद-धमार-तराना, चतरंग-त्रिवट इत्यादि विभिन्न शैलियों के गीतों का संग्रह है। पुस्तक का प्राक्कथन संगीत मार्तंड डा० ओमकारनाथ जी ठाकुर ने लिखा है, जिसमें पुस्तक की विशेषताओं पर साधिकार प्रकाश डाला गया है।

पं० भट्टजी की अपनी गीतरचनाओं में नाना प्रकार से वैविध्य साधा गया है। गीतों की विषय-वस्तु की तथा गायन शैलियों की विविधता, ताल और रागोंका नूतनत्व और स्वर-रचना के साथ गीत के शब्द, अर्थ तथा भाव के सामंजस्य से इस गीतसंग्रह में एक अनोखापन आया हैं। अवश्य इस पुस्तक में समाविष्ट नवरचित दीर्घ ताल तथा राग कहां तक संगीत जगत में प्रचलित होंगे यह प्रयोग सापेक्ष है। कारण विशेषतः ऐसे ताल एक युग में भारतीय संगीत में प्रचलित होते हुए भी उनकी क्लिष्टता से गायक को होने वाली असुविधा के कारण ही आगे चलकर अप्रचलित हो गये यह देखा जाता है। ऐसे तालों और रागों को अपनाना संगीत प्रेमी जनोंकी अपनी अपनी रुचि पर ही निर्भर करेगा। परन्तु उनके आविष्कार से रचयिता की कल्पना, रागशास्त्र तथा लय-छंद पर उनके अधिकार का पूर्ण परिचय मिलता है।

पुस्तक के प्रारंभ में प्राचीन ग्रंथों में 'निबद्ध गीत' के पर्याय में समाविष्ट 'प्रबंध' के संबंध में श्रीमती प्रेमलता शर्मा, रीडर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय का एक खोजपूर्ण निबंध है। यह कुछ अंश में पुस्तक की प्रस्तावना का भी कार्य करता है। इस निबंध से ऐसे पाठकों को जिनकी संस्कृत में लिखे हुए प्राचीन संगीत ग्रंथों तक पहुँच नहीं है, 'प्रबंध' संबंधी विस्तृत जानकारी

हो सकती है। तद्वत् यह निबंध 'प्रबंध संबंधी, खोज कार्य करने की मनीषा रखनेवालों को प्रेरणा देने के कार्य में भी मार्गदर्शन कर सकता है।

काव्य रचना और स्वर रचना अर्थात्—संगीत की भाषा में मातु रचना और धातु रचना दोनों का समन्वय साध कर ग्रंथकर्ता ने एक श्रेष्ठ वाग्गेयकार के रूपमें अपना परिचय दिया है इसमें संदेह नहीं। इस 'भावरंग'-लहरी' से संगीत जगत समृद्ध हुआ है। हमें विश्वास है कि यह कृति संगीतप्रेमीजनों की प्रीति अर्जन करने में समर्थ होगी।

—विद्याधर व्यं० वमलवार

प्राप्ति स्वीकार

समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी चाहिए। हिन्दी के सिवा अन्यान्य भाषाओं की पुस्तकें भी आलोचित होंगी। निम्नलिखित ग्रन्थ समीक्षार्थ प्राप्त हुए हैं

१ वेदिक मेथेमेटिक्स आर सिक्सटीन सिम्पल मेथेमेटिकल फार्मूले फ्राम द वेदास्—ले० जगद्गुरु स्वामी श्री भारती कृष्ण तीर्थजी महाराज, शंकराचार्य, गोवर्धन मठ, पुरी, प्रकाशन बनारस, हिन्दू यूनिवर्सिटी।

२ अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, ले० डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, प्रकाशन, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० डा० दयानन्द श्रीवास्तव, प्रकाशन अमिताभ प्रकाशन, कलकत्ता।

४ ला कुल्तरा देल्ल इंदिया इएरी ए औज्जी (इतालनी) ले० अमालिया पेज्जाली, प्रकाशन मिस्सियोनी कौंसोलाता, तोरीनो (इटेली)।

RATES OF ADVERTISEMENT

ORDINARY PAGES		Contract	Casual
Full page	— —	Rs 100	120
Half Page	— —	Rs 50	70
Quarter Page	— —	Rs 40	60
SPECIAL PAGES	10% extra		
COVER PAGES			
Cover II	— —	Rs 130	160
Cover III	— —	Rs 130	160
Cover IV	— —	Rs 180	22)

Contract rate is applicable for at least four consecutive insertions,

All communication should please be addressed to

The Editor
Visva-Bharati Patrika (Hindi)
Hindi-Bhavana, Santiniketan
Telephone : Bolpur 21—Extn. 39

विश्वभारती पत्रिका

विज्ञापन-दर

साधारण पृष्ठ	एक वर्ष (चार अंकों) का	एक अंक का
एक पृष्ठ	४००)	१२०)
आधा पृष्ठ	२००)	७०)
चौथाई पृष्ठ	१६०)	६०)
विशेष पृष्ठ	१०% अतिरिक्त	
आवरण पृष्ठ		
आवरण दूसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण तीसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण चौथा पृष्ठ	७२०)	२२०)

पत्र व्यवहार का पता

संपादक,
विश्वभारती पत्रिका (हिंदी),
हिंदी-भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।
टेलिफोन, बोलपुर २१-एक्सटेंशन ३९।